आयुर्वेद में प्रमाण पत्र

कोड संख्याः CIA-02

चिकित्सा विज्ञान एवं पंचकर्म

वर्धमान महावीर विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

सौजन्यः पं. सुन्दर लाल शर्मा (मुक्त)
विश्व विद्यालय छत्तीसगढ़, बिलासपुर

चिकित्सा विज्ञान एवं पंचकर्म

अनुसूची

इकाई –1	रोग विज्ञान
इकाई – 2	रोग निदान
इकाई – 3	रोगी परीक्षा
इकाई – 4	आहार–विज्ञान
इकाई – 5	पोषण – विज्ञान
इकाई – 6	चिकित्सा विज्ञान
इकाई – 7	शमन चिकित्सा
इकाई – 8	पंचकर्म विज्ञान
इकाई – 9	रसायन विज्ञान
इकाई – 10	योग विज्ञान

पं. सुंदरलाल शर्मा (मुक्त) विश्वविद्यालय छत्तीसगढ़, बिलासपुर

पो.बा. # 20, शहीद चन्द्रशेखर आजाद परिसर, व्यापार विहार, बिलासपुर (छ.ग.)

फोन : 07752.414225ए फैक्स 07752.414245

चिकित्सा विज्ञान एवं पंचकर्म

लेखिका

डॉ. श्रीमती विमला शर्मा

// अध्ययन मंडल //

डॉ. दिनेश्वर शर्मा	(अध्यक्ष)
डॉ. डी. के. तिवारी	(सदस्य)
श्री डी. के. कटरिया	(सदस्य)
डॉ. श्रीमती लीला पाण्डेय	(सदस्य)
डॉ. श्रीमती विमला शर्मा	(संयोजक)

सितम्बर 2006 पं.सुंदरलाल शर्मा (मुक्त) विश्वविद्यालय प्रेस द्वारा मुद्रित

// प्रकाशक //

पं. सुंदरलाल शर्मा (मुक्त) विश्वविद्यालय छत्तीसगढ़, बिलासपुर

पो.बा. #20, शहीद चन्द्रशेखर आजाद परिसर, व्यापार विहार, बिलासपुर (छ.ग.)

फोन : 07752-414225, फैक्स 07752-414245

इकाई–1 (रोग विज्ञान)

इकाई की रूपरेखा –

1. उद्देश्य।
2. प्रस्तावना।
3. विषय वस्तु।
    - रोग (व्याधि) की परिभाषा।
    - रोग उत्पत्ति का कारण।
    - रोगों का वर्गीकरण।
    - षट् क्रिया काल परिचय।
4. सारांश।
5. अभ्यास प्रश्न।

1. **<u>उद्देश्य</u>** – यह आयुर्वेद प्रबोध पाठ्यक्रम के तृतीय प्रश्न पत्र की पहली इकाई है। इस इकाई में आपको रोग की परिभाषा, भेद आदि का अध्ययन कराया जायेगा। जिसके अध्ययन पश्चात् आप :–

- रोग के अंतर्गत आने वाले विषयों को समझ सकेंगे।
- रोग के भेदों को समझ पायेंगे।
- भेदों की व्याख्या को समझा पायेंगे।
- दोषादि के षट् क्रिया काल का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

2. **<u>प्रस्तावना</u>** – यह आयुर्वेद प्रबोध एक वर्षीय प्रमाण पत्र पाठ्यक्रम का तृतीय प्रश्न पत्र के अंतर्गत पहली इकाई है। इस प्रश्न पत्र के पूर्व आप आयुर्वेद का इतिहास, आयुर्वेद के मूल सिद्वांत, दोष धातु, मल का विवेचना, शरीर की परिभाषा, षडंग शरीर की व्याख्या, समस्त द्रव्य गुण विज्ञान, वनस्पति खनिज एवं जागंम औषधि द्रव्यों का संक्षिप्त परिचय, प्रयोग एवं प्रमुख भेदों का अध्ययन किये। उपरोक्त विषय के अध्ययन पश्चात आप को रोग या व्याधि की परिभाषा, व्याधियों को समझने में सहायता मिलेगी। चूंकि पूर्व में अध्ययन कर चुके है कि दोष धातु मल ही शरीर का मूल है जिसकी साम्य अवस्था आरोग्यता एवं विषम अवस्था व्याधि कहलाता है। अतः व्याधि से संबंधित विषयों का आगे अध्ययन करेंगे। व्याधि की परिभाषा व्याख्या, रोग–भेद भेदों की व्याख्या–षट् क्रिया काल के अंतर्गत दोषों का संचय, प्रकोप आदि अवस्थाओं का अध्ययन करेंगे। विकृत अवस्था एंव इसी दौरान क्रिया काल या चिकित्सा काल का अध्ययन करेंगे। तथा अलग–अलग रोगों का विभिन्न भेदों का अध्ययन करेंगे।

विषय वस्तु

व्याधि की परिभाषा

1. जिस कारण से या जिसके संयोग (दोषों का धातुओं से मिलना) से या मन में (रज, तम दोष) दोष उत्पन्न होने से पुरूष या व्यक्ति को दुःख होता है। उसे व्याधि या रोग कहते है।

2. किसी भी प्रकार का शारीरिक एवं मानसिक सुख या दुःख देने वाले हेतु को व्याधि कहते है।

3. आरोग्य का नाम ही सुख है एवं विकार को दुख या व्याधि कहते है।

4. स्वास्थ्य की परिभाषा के विपरीत लक्षण को व्याधि या रोग कहते है।

व्याधि के पर्याय – गद आतंक, यक्ष्मा, ज्वर, विकार, रोग आदि।

रोग विनिश्चय – रोगों के विभिन्न भेदों से तथा साध्य असाध्यता की दृष्टि से रोग का संपूर्ण ज्ञान होना रोग विनिश्चय (रोग का पहचान) कहलाता है।

व्याधि उत्पत्ति का कारण – विभिन्न प्रकार का आहार विहार जो प्रकृति के विरूद्ध ऋतु के विरूद्ध होता है वहीं व्याधि उत्पत्ति का कारण होता है। अतः विरूद्ध अवस्था को या दूषित रोगोत्पादक विहार से दोष धातु मल अपने स्वाभाविक अवस्था से विपरीत हो जाते है एवं रोग उत्पन्न करते है। इन कारणों को चार श्रेणियों में बांटा गया है।

रोगों का वर्गीकरण या रोग भेद – इसे ही हम व्याधि भेद कहते है। विभिन्न विषयों को आधार मानकर रोग के निम्न भेद माने है।

व्याधि भेद

(अ) त्रिविध रोग–

(1) आध्यात्मिक (2) आधिभौतिक (3) आधिदैविक।

(1) **आध्यात्मिक रोग**– जो रोग मनुष्य के शरीर से उत्पन्न होते है, वह इस श्रेणी में आते हैं। ये तीन प्रकार के होते है

(1) आदि बलज अथवा वंशज – माता पिता के शुक्र और आर्तव में पाये जाने वाले दोषों के कारण जो रोग उत्पन्न होते हैं, वे इस श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।

(अ) मातृज – माता के आर्तव दोष से उत्पन्न।

(ब) पितृज – जो पिता के शुक्र दोष से उत्पन्न होता है।

(2) जन्म बलज अथवा जन्मजात – गर्भावस्था के दौरान के अनुचित आहार–विहार से उत्पन्न होता है। जैसे जन्म से अंधापन, पंगुता, गुंगापन इत्यादि।

(3) मनुष्य के अपने अनुचित आहार–विहार सेवन से वायु आदि दोष दूषित हो रोग उत्पन्न करते है। यह भी दो प्रकार का होता है।

(अ) आमाश्योत्थ – जो उदर और छोटी आंत के ऊपरी भाग में उत्पन्न होते हैं जैसे कास, श्वास, यकृत वृद्धि आदि।

(ब) शस्त्रज – शस्त्र हथियार (चाकू, छुरी, तलवार, पत्थर, बंदूक) के प्रहार से होने वाला घाव या चोट।

(2) आधि भौतिक – इन्हें संघात बलज या आगंतुक भी कहा जाता है। जो किसी बाह्य कारण से उत्पन्न होते हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं।

(अ) व्यालज – जो जानवरों, कुत्ता, बिल्ली के काटने या आक्रमण से उत्पन्न हो– बिच्छु, सांप, कुत्ता, चुहा, बिल्ली आदि।

(ब) शस्त्रज – शस्त्र हथियार (चाकू, छुरी, तलवार, पत्थर, बंदूक) के प्रहार से होने वाला घाव या चोट।

(3) आधि दैविक – जो रोग प्राकृतिक कारणों से होता हैं वे इस श्रेणी में आते हैं। इसके भी तीन भेद हैं।

(1) कालबलज अथवा ऋतु संबंधी – ये रोग अधिक वर्षा, सर्दी, गर्मी लग जाने से उत्पन्न होता है। इसके दो भेद बनाये है।

(अ) व्यापन्न ऋतु रोग – जो मौसम की विषमता के कारण जैसे गर्मी के मौसम में कमी कम और कभी ज्यादा गर्मी लगना अथवा सर्दी में कभी कम ज्यादा सर्दी लगना।

(ब) अव्यापन्न ऋतुज रोग – वह रोग जो सामान्य मौसम में या मौसमी रोग हो।

(2) देवबल सम्भुत रोग – देवताओं, विद्युत, पिचाश से उत्पन्न रोग।

(3) स्वभाव बलज – जो स्वाभाविक शरीर की अस्वस्थता से उत्पन्न होता है। जैसे भूख, प्यास, वृद्धावस्था, काम, क्रोध, निद्रा आदि।

(ब) **व्याधि के अन्य भेद**– रोग की उत्पत्ति और आश्रय की प्रधानता के अनुसार चार भेद होते हैः–

(1) आगंतुक – बाह्य कारण जैसे रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु, विष, भूत, प्रेत, देव, यक्ष के द्वारा चोट लगना, अग्नि से जलना, अस्त्रों से आघात या व्याभिचार से उत्पन्न रोग आगंतुक कहलाते है।

(2) शरीर रोग – विपरीत आहार–विहार के द्वारा वात, पित्त, कफ, दोष रस रक्तादि धातु एवं मल, पुरीष, मूत्र की क्षय वृद्धि होकर रोग उत्पन्न होना। शरीर रोग कहलाता है।

(3) मानस रोग – मन जब तक सत्व प्रधान रहता है तब तक मन विकृति नहीं होती है। परंतु रत एवं तम दोनों मनों दोष के प्रभाव से मानसिक विकृति होकर रोग उत्पन्न होती है उसे मानस दोष कहते है।

(4) स्वाभाविक रोग – शरीर में दैनिक कार्य या दिनचर्या से कुछ न कुछ विषमता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है और इस विषमता से रोगी को कष्ट होता है। अतः इसे स्वाभाविक रोग कहते है। जैसे भूख, प्यास, निद्रा, बुढ़ापा यह स्वाभाविक रोग है।

(स) व्याधि के लक्षण भेद से : तीन प्रकार

(1) आपैद्रविक – प्रथम उत्पन्न व्याधि के परिणाम स्वरूप उपद्रव रूप में उत्पन्न रोग यह मुख्य रोग चिकित्सा से विशेष शांत हो जाते है।

(2) प्राक्केवल – विशेष दोष के कारण उत्पन्न मूल व्याधि। जैसे – मधुमेह, राजयक्ष्मा इसे प्राक्केवल व्याधि कहते है।

(3) अन्य लक्षण – जो व्याधि भविष्य में होने वाली दूसरी व्याधि के लक्षण के रूप में उत्पन्न हो। जैसे वातज, ज्वर के आक्रमण के पूर्व जृम्मा (जमाई) का आना, पित्तज ज्वर के पहले नेत्रों में जलन।

(द) अन्य भेद से दो प्रकार –

1. स्वतंत्र रोग – जो रोग शास्त्र में वर्णित कारणों से एवं शास्त्रों में वर्णित लक्षणों से उत्पन्न हो तथा शास्त्रों में वर्णित चिकित्सा विज्ञान से शांत हो उसे स्वतंत्र रोग कहते है।
2. परतंत्र रोग – जो रोग पूर्व में उपस्थित रोग के कारण (उपद्रव स्वरूप) उत्पन्न हो एवं मूल रोग की चिकित्सा से शांत हो। उसे परतंत्र रोग या अनुबंध रोग कहते है।

(क) दोषज कर्मज भेद से तीन प्रकार –

1. दोषज – मिथ्या (प्रतिकूल) आहार–विहार से दोष के प्रकुपित होने पर होने वाला रोग। जैसे वातज, अतिसार, पित्तज ज्वर आदि।
2. कर्मज – पूर्व जन्मों में किये गये शुभ अशुभ कर्मो से उत्पन्न रोग या जिसे रोग का उचित प्रकार चिकित्सा करने पर भी शांत न हो पा रहा हो उसे कर्मज व्याधि कहते है।
3. दोष कर्मज – कुछ रोग पूर्व जनम के अशुभ कर्म एवं इस जन्म के अपथ्य सेवन से उत्पन्न हो उसे दोष कर्मज रोग कहते है। जैसे वात रक्त।

(ख) अन्य भेद से –

1. आदि बल प्रवृत – माता पिता में उपस्थित रोग का संतानों में उत्पन्न होना। अर्थात् माता पिता में पूर्व से उपस्थित रोग के द्वारा दूषित शुक्र या आर्तव (स्त्री बीज) से उत्पन्न संतान में इन व्याधियों का पाया जाना। इसे अनुवांशिक या कुलज या क्षेत्रीय रोग कहते है। जैसे अर्श (बवासीर), राज यक्ष्मा (टी.बी.)।
2. जन्म बल प्रवृत – इस वर्ग में आने वाली व्याधि को दो भागों में बांटते हैं।

(i) रसकृत – रस धातुओं की विकृति से उत्पन्न रोग।

(ii) दोहृदोपचार – गर्भीणी की इच्छा की पुर्ति न होने पर उत्पन्न रोग। गर्भाधान के समय माता के अहित आहार विहार के सेवन से बालको में उत्पन्न व्याधि इसी तरह मन के विकृत होने से या गर्भीणी स्त्री के मन वांछित आहार विहार की पूर्ति न होने से जो रोग उत्पन्न होता है उसे जन्मबल प्रकृत कहते हैं। जैसे – बौनापन, बाधिर्य (बहरापन), मुक्ता (गुंगापन), पंगुता (लंगड़ापन) इत्यादि।

3. दोष बल प्रवृत – रोग से पीड़ित होने के बाद उचित आहार विहार का पालन न करने पर एक व्याधि से दूसरी व्याधि उत्पन्न होती है। जैसे– (1) प्रतिश्याय (सर्दी) से उत्पन्न
कांस (खांसी) (2) अत्यधिक ज्वर से रक्तपित (नाक, गूदा से रक्त स्त्राव) इसी तरह मन के दोष रज–तम से उत्पन्न मानसिक व्याधि जो दोष व्याधि के साथ उत्पन्न होते है।
आदि बल प्रवृत, जन्मबल प्रवृत, दोष बल प्रवृत रोगों का समावेश आध्यात्मिक रोगों में होता है।

4. संघात बल प्रवृत – इसके भी दो भेद होते है–

(i) शस्त्र कृत – चाकू, तलवार आदि शस्त्रों के प्रयोग से उत्पन्न रोग।

(ii) कालकृत – हिंसक प्राणियों के आक्रमण से दुर्बल व्यक्ति का बलवान पुरूष से लड़ाई करने से उत्पन्न रोग।

5. काल बल प्रवृत – इसके भी दो भेद है।

(अ) व्यापन्न ऋतुकृत – ऋतुओं में विषमता होने से अर्थात् शीत ऋतु में गर्मी उत्पन्न होना या गर्म ऋतु में ठंड लगना।

(ब) अव्यापन्न ऋतुकृत –ऋतुओं के अनुसार स्वाभाविक संचय, प्रकोप आदि से उत्पन्न होने वाले रोग।

इस प्रकार ऋतु जन्य रोग अत्याधिक शीत, वर्षा, गर्मी के प्रभाव से जो रोग होता है। काल प्रकृत रोग कहते है।

6. देवबल प्रवृत – देवादि ग्रहों का दोष, अभिचार, अभिशाप, जनदोध्वंस (एक ही समय में एक ही रोग से अधिक लोगों का आक्रांत होना) के संपर्क में आने पर व्याधि होना। देवबल प्रवृत कहते है इसके भी दो भेद होते है। (1) संसर्गज (2) आकस्मिक।

7. स्वभाव बल प्रवृत – (1) कालज (2) अकालज। इसके दो भेद हैः–

(i) कालज – जो स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जैसे क्षुधा (भुख), तृष्णा (प्यास) आदि।

(ii) अकालज – स्वस्थवृत का पालन न करने पर असमय उत्पन्न, रोग जैसे बालों का गिरना, पकना, त्वचा में झुर्रियां इत्यादि।

इस तरह कालबल प्रवृत रोग आदि दैविक रोग कहलाते है।

(ग) अधिष्ठान भेद से –

(i) मानसिक (ii) शारीरिक।

(घ) कारण भेद से –

(i) निज (ii) आगंतुक।

(न) साध्य साध्यता भेद से –

(i) सुख साध्य (ii) कष्ट साध्य (iii) याप्य (iv) असाध्य।

(ड़) आक्रमण भेद से –

(i) मृदु (ii) मध्य (iii) तीव्र।

षड क्रिया काल

व्याधि या रोग की कोई भी कारण हो उसे अध्ययन करने से पहले हमें शारीरिक दोषों की अवस्था और विभिन्न पहलुओं पर विचार करना आवश्यक होता है पूर्व में ही अध्ययन कराये हैं कि हमारे शरीर में दोष वह तत्व है जिसकी प्राकृत अवस्था शरीर को निरोग रखता है एवं विकृत (क्षय वृद्धि) अवस्था शरीर में व्याधि उत्पन्न करता है। इसी संदर्भ में हम आगे अध्ययन करेंगे।

दोष के द्वारा शारीरिक धातु, उपधातु, मलों की दृष्टि एवं उससे रोग उत्पत्ति तक दोष की छः अवस्थाएं होती हैं।

(i) संचय (ii) प्रकोप (iii) प्रसर (iv) स्थान सश्रंय (v) अभिव्यक्ति (vi) भेदावस्था।

(i) **संचय** – इस अवस्था में दोष अपने ही स्थानों में संचित होते है जैसे– वात का स्थान कटिप्रदेश एवं अस्थियां है। अतः वहां वात सर्वप्रथम एकत्रित होगा। तत्पश्चात् वात दोष को बढ़ाने वाले आहार (रूक्ष, शीत द्रव्यों) एवं विहार (अत्यधिक व्यायाम, अत्यधिक सवारी) से एकत्रित वात में वृद्धि होगी। इसी तरह शरीर में बाहर से प्रविष्ट जीवाणु के द्वारा रोग उत्पन्न होना, दोषों की संचय अवस्था होती है। इस अवस्था में जिस भी दोष का संचय होता है। रोगी को उसके अनुकूल गुण धर्म वाले द्रव्यों से अरूचि तथा विरूद्ध या प्रतिकुल गुण धर्म वाले द्रव्यों की सेवन की इच्छा होती है। यदि संचय काल या प्रथम अवस्था में दोषों को बाहर निकालने (निर्हरण) या शमन (शरीर में ही संचय दोषों की शांति) हो जाय तो रोग की वृद्धि या दोषों की प्रकोप अवस्था नहीं आ पाती। चिकित्सा की दृष्टि से इस अवस्था को प्रथम क्रियाकाल या चिकित्सा का प्रथम पड़ाव कहते है।

(ii) **प्रकोप** – अपने स्वस्थान में संचित या एकत्रित दोष विरूध आहार विहार के द्वारा वृद्धि होकर प्रकुपित होता है। और अपने स्थान से हटकर अन्य मार्गों में गमन करता है

दोषों की अस्वाभाविक गति तीन है। 1. ऊर्ध्व 2. अधः 3. तिर्यक। जिसके अनुसार ऊर्ध्व या ऊपर की ओर, अधः या नीचे की ओर एवं तिर्यक या तिरछी गति से शरीर के अवयवों में रोग लक्षण उत्पन्न करते हैं।

उदाहरण –1. वात प्रकोप में कोष्ठ (आमाशय पक्वाशय का भरा महसूस होना) बद्धता। 2. पित्त प्रकोप में प्यास, जलन, गर्मी महसूस होना। 3. कफ प्रकोप में अन्न के प्रति अरूचि, वमन, भोजन का न पचना। यह तृतीय क्रियाकाल कहलाता है।

3. **प्रसार** – दोष अपने स्थान में प्रकुपित होकर (जैसे – किसी बर्तन में रखा कोई वस्तु दुग्ध, दही खराब होने पर उसमें सड़न और दुर्गंध आने लगता है) अपने स्थान से सारे शरीर में फैलता है। उसी प्रकार दोष में भी उफान आने लगता है और अपने आसपास फैलता है। इस अवस्था को प्रसर (फैलना) अवस्था कहते है। इस अवस्था में दोषों का निर्हरण या शमन होने से व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। यह चिकित्सा की तृतीय पढ़ाव या तृतीय क्रियाकाल कहलाता है।

4. **स्थान संचय अवस्था** – तृतीय क्रिया काल अवस्था या प्रसर अवस्था में दोषों का शमन होने पर प्रकुपित दोष रस, रक्त वाहिनियों के द्वारा सारे शरीर में फैलते हुये स्त्रोतों को विकृत करते हुये, शरीर के किसी भी अवयव या अंग जैसे :– हृदय, फेफड़ों आदि में पहुंचकर उपस्थित दुष्यों (धातुओं) को विकृत करते है एवं स्थान के अनुसार विकार या रोग उत्पन्न करते है। इस अवस्था में स्थान और स्थान में स्थित धातु और दोष तीनों मिल जाने से स्थान संश्रय अवस्था कहलाता है। इस अवस्था में उत्पन्न होने वाले रोग के अल्प लक्षण या पूर्वरूप अवस्था उत्पन्न हो जाते है और कौन सी व्याधि या रोग है इसका अनुमान हो जाता है।

5. **व्यक्तावस्था** – इस अवस्था में रोग के सभी लक्षण पूर्णतः व्यक्त हो जाते है। इसी को व्याधि दर्शन या रूप कहते है। जैसे ज्वर, अतिसार के लक्षण का पूर्णतः प्रगट होना। इसे चिकित्सा का पंचम अवस्था या पंचम क्रियाकाल कहते है।

6. **भेदावस्था** – इस अवस्था में रोग का भेद किया जा सकता है। और रोग साध्य है या असाध्य है की जानकारी मिलती है जैसे 1. वतिक ज्वर (ज्वर के वातिक पैत्तिक भेद से), 2. आमातिसार (दस्त आम से संबंधित है) आदि। यह छठवां चिकित्सा काल या क्रिया काल की अवस्था होती है। जिसे भेदावस्था कहते है।

सारांश

1. इस इकाई में रोग की परिभाषा एवं उस की व्याख्या का सरल अध्ययन किया है। जिन पक्षों पर व्याख्या की गई है वह निम्न है–

(i) रोग किसे कहेंगे, रोग का पर्याय क्या है?

(ii) रोग विनिश्चय के द्वारा रोगों की साध्य असाध्यता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(iii) रोगों के विभिन्न भेदों की जानकारी एवं उन भेदों की संक्षिप्त में व्याख्या का अध्ययन कर विभिन्न प्रकार के रोगों के विषय में जान सकेंगे।

(iv) शारीरिक दोषों की प्रकुपित होने के लिए जो अवस्थाएं है। संचय आदि से लेकर रोगों की उत्पत्ति एवं वातदि भेदों को व्यक्त कर सकेंगे।

अभ्यास प्रश्न

1. रोग की परिभाषा क्या है?
2. रोग विनिश्चय को समझाते हुये, रोग उत्पत्ति के कारणों को बतायें।
3. रोग के विभिन्न भेदों को बताकर भेदों का परिचय दे।
4. षड् क्रिया काल से आप क्या समझते है संक्षिप्त में वर्णन करें।

आयुर्वेद – प्रबोध

इकाई – 2 (रोग निदान)

इकाई की रूपरेखा –

1. उद्‌देश्य ।
2. प्रस्तावना ।
3. विषय वस्तु ।
    - पंच निदान परिचय।
    - पूर्व रूप एवं रूप परिचय।
    - उपशय परिचय।
    - सम्प्राप्ति परिचय।
4. सारांश।
5. अभ्यास प्रश्न।

उद्देश्य –

इस इकाई के अध्ययन से आप

- पंच निदानों का भेद एवं व्याख्या को समझ सकेंगे।
- निदान का संक्षिप्त परिचय एवं निदान के भेदों का ज्ञान होगा।
- पूर्व रूप में हम रोगों के अल्प रूप में उपस्थित लक्षण को जान पायेंगे।
- रूप से संबंधित लक्षणों को जानेंगे।
- उपशय परिचय एवं व्याख्या का ज्ञान होगा।
- सम्प्राप्ति के आधारित सिद्धांतों का सरल ज्ञान प्राप्त करेंगे।

प्रस्तावना

इस इकाई में आप रोग उत्पन्न होने के कारण जिसे आयुर्वेद शास्त्र में निदान कहा जाता है। उसकी परिभाषा व्याख्या एवं पंच निदान के अंतर्गत आने वाले भेदों का परिचय प्राप्त करेंगे। साथ ही उपरोक्त विषयों के द्वारा रोग, रोगों का भेद का ज्ञान प्राप्त कर रोग निदान कर सकेंगे। यह विषय स्वयं अपने ज्ञान के लिए अति आवश्यक है ताकि छात्र स्वयं में उत्पन्न रोग को पहचान कर उससे बचने का प्रयास कर सकें। हमारा यह पाठ्यक्रम पूर्णतः विषय की जानकारी प्राप्त करने के लिए है। अतः रोग के भेद निदान आदि का ज्ञान होने पर हम अपने आस–पास के पर्यावरण को सुधार कर स्वयं को एवं अन्य को स्वस्थ रख पायेंगे।

विषय वस्तु
पंच निदान परिचय

आयुर्वेद शास्त्र में रोग उत्पत्ति के कारणों एवं रोग के लक्षणों के अनुसार रोग को निश्चित रूप से पहचानने की विधि को पंच निदान कहते है।

1. निदान या हेतु या रोगों उत्पादक कारण।
2. पूर्वरूप
3. रूप
4. उपशय
5. सम्प्राप्ती

''निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पंचधा स्मृतम्।।

निदान, पूर्व रूप, रूप, उपशय, सम्प्राती इन उपायों से व्याधि का विशिष्ट ज्ञान होता है इसे पंच निदान कहते हैं।

निदान या हेतु

''सेति कर्त्तव्य ताक : रोगोत्पादक हेतु निदानं,'' कर्त्तव्य की अनेकताओं से युक्त अर्थात् दोष प्रकोपक अनेक कार्यों को करते हुए जो रोग को उत्पन्न करता है। उसे निदान कहते हैं अर्थात् विविध अहित आहार विहार जिनके सेवन से दोषों का प्रकोप होता है, तथा वे दोष जो स्वयं दूषित होकर रोग उत्पन्न करते हैं वह निदान कहलाते हैं, या वह कारण जिससे रोग उत्पन्न होता है निदान कहलाता है।

निदान के चार भेद होते है –

1. सन्निकृष्ट – रात एवं दिन के अनुसार एवं भोजन पाचन के अनुसार दोष की वृद्धि होती है जैसे– अ. दिन के आरंभ (सुबह) में कफ, मध्य (दोपहर) में पित्त, अंत (सायंकाल) में वात का प्रकोप होता है।

ब. इसी तरह रात्रि में कफ, मध्यम में पित्त अंत में वात। भोजन पाचन के प्रारंभ में कफ, मध्यम में पित्त और अंत में वात् प्रकोप होता है। इस प्रकोप के लिए दोषों संचय की आवश्यकता नहीं होती। यह स्वाभाविक होता है।

2. विपकृष्ट – ये दोषों के दूरगामी कारण होते हैं जैसे –ऋतु अनुसार हेमंत ऋतु में संचित कफ वसंत में प्रकुपित होकर कफज रोगों को उत्पन्न करता है।
3. व्याभिचारी – जो कारण कमजोर होने से व्याधि उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। उसे व्याभिचारी कहते हैं जैसे – दोष कम रूप में प्रकुपित है और उससे दूष्य भी कम मात्रा में दूषित हुआ तब व्यक्ति के रोग प्रतिरोधक क्षमता की प्रबलता के कारण रोग उत्पत्ति नहीं हो पाती और यदि हो भी गई तो सौम्य स्वरूप का होता है।
4. प्राधानिक – वह रोगोत्पादक कारण जो उग्र स्वभाव के कारण दोषों को प्रकुपित कर के रोगों को उत्पन्न करता है वह हेतु प्राधानिक होता है।

उपर्युक्त निदान के प्रकार अनुसार सिद्धांतों के आधार पर निदान के और भी प्रकार बताये गये है जैसे –

1. **असात्म्येन्द्रियार्थ –संयोग**

शरीर में स्थित कान, नाक, रसना, नेत्र, त्वचा के द्वारा शब्द, स्पर्श आदि विषयों का हीन (अल्पमात्रा) योग, मिथ्या योग (शब्द न रहने पर भी सुनाई देना) अतियोग, (तीव्र शब्द, तीव्र प्रकाश आदि विषयों का अधिक मात्रा में इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करना) असात्म्योन्द्रियार्थ –संयोग कहलाता है।

2. **प्रज्ञापराध** –

बुद्धि, स्मृति (याद दास्त), धैर्य (धीरज) के विलुप्त हो जाने पर मनुष्य जो अहित कर्म करता है जैसे – सर्प को रस्सी समझ पकड़ना। इसी तरह अहित कर आहार विहार से विभिन्न रोगों की उत्पत्ति होना। इसी तरह संसार के समस्त संक्रामक रोग प्रज्ञापराध कहलाता हैं। विशेष करके फिरंग, उपदंश, एड्स आदि।

3. **परिणाम** –

ऋतुओं के स्वाभाविक शीत, आदि गुणों का हीन, मिथ्या, अतियोग होना परिणाम हेतु कहलाता है जैसे – शिशिर ऋतु में शीत (ठंड) का कम होना हीन योग, उष्ण या गर्मी लगना मिथ्या योग, अत्यधिक ठंड लगना अतियोग कहलाता है उससे विभिन्न रोग उत्पन्न रोग उत्पन्न होते है।

<u>निदान के पुनः तीन भेद होते है</u> –

1. **दोष हेतु** – दोषों को प्रकुपित कर व्याधि उत्पन्न करने वाला मधुर आदि रस दोष हेतु होते है।

2. **व्याधि हेतु** – दोष को दूषित कर निश्चित ही रोग उत्पन्न करने वाला कारण व्याधि हेतु कहलाता है जैसे – मिट्टी खाने से निश्चित ही पाण्डु (पीलिया) रोग होता है।
3. **उभय हेतु** – विशिष्ट दोष को प्रकुपित कर, विशेष रोग को उत्पन्न करना उभय हेतु कहा जाता है। जैसे– अत्यधिक हाथी, ऊंट, घोड़े की सवारी करने से वात वृद्धि होती है साथ ही गरम, खट्टी आहार लेने से पित्त और रक्त की वृद्धि होती है इस तरह वात, पित्त और रक्त, नीचे लटकते अंगों (पैर) के संधियों में प्रभाव डालकर वात रक्त रोग को उत्पन्न करता है।

<u>निदान के पुनः दो भेद होते है</u> –

1. **उत्पादक** – हेमंत ऋतु में मधुर रस कफ का उत्पादक होता है और यह कफज रोगों के उत्पादक निदान कहलाता है। इसी तरह अन्य ऋतुओं में ऋतुजन्य रोग उत्पन्न होते है।
2. **व्यंजक निदान** – हेमंत ऋतु में संचित कफ, बसंत ऋतु में सूर्य की गरमी से दूषित होकर कफज रोगों को उत्पन्न करता है। अतः बसंत का सूर्य ताप व्यंजक हेतु है।

<u>अन्य भेद</u> –

1. **बाध्य हेतु** – आहार–विहार काल (ऋतु) जीवाणु आघात, कीड़े, सर्प के द्वारा काटा जाना, विद्युत, विषपान इसके द्वारा उत्पन्न रोग बाह्य हेतु होता है जिसके कारण दोष प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न करते हैं।
2. **आभ्यांतर हेतु** – शारीरिक दोष, धातु का दूषित होना आभ्यांतर हेतु है।

<u>पूर्वरूप</u>

जब रोग विशेष का ज्ञान के बिना ही उत्पन्न रोग सिर्फ लक्षणों से पहचाना जाय उसे पूर्वरूप कहते है। अर्थात् जिस रोग के जो रूप या लक्षण हैं उनका कम मात्रा में व्यक्त होना पूर्वरूप कहलाता है।

पूर्वरूप के दो भेद हैं –

1. सामान्य पूर्वरूप 2. विशिष्ट पूर्वरूप

1. सामान्य पूर्वरूप – दोष का दूषित होकर दूष्यों से संयोग के समय जो साधारण लक्षण उत्पन्न होता है उसे सामान्य पूर्वरूप कहते हैं जैसे ज्वर (बुखार) होने पर थकावट, आलस्य से ज्वर रोग का ही बोध होता है। वह किस विशेष दोष प्रधान है इसका ज्ञान नहीं हो पाता इस लक्षण को सामान्य पूर्वरूप कहते है।

2. **विशिष्ट पूर्वरूप** – रोग उत्पत्ति के बाद उस का वातज या पित्तज प्रधान होने के जो विशिष्ट लक्षण व्याधि पूर्व उत्पन्न होते हैं उसे विशिष्ट पूर्वरूप कहते है।

जैसे – वात ज्वर में अत्यधिक जम्माई आना, पित्तज ज्वर में नेत्रों में जलन होना। कफज ज्वर में अन्न के प्रति अरूचि इत्यादि। इसी विशिष्ट पूर्वरूप को रूप भी मान सकते है। सरल शब्दों में दूषित या कुपित होकर स्थान संचय को प्राप्त हुए दोष भविष्य में होने वाले व्याधि या रोग को व्यक्त करने वाले लक्षणों को उत्पन्न करते हैं उसे पूर्वरूप कहते है।

''भविष्य व्याधि बोधकमेव लिंग पूर्वरूपम्।'' अर्थात् भविष्य में होने वाले रोग का ज्ञान कराने वाला लक्षण या लक्षण समूह को पूर्वरूप कहा जाता है।

रूप

व्यक्त हुआ पूर्वरूप ही रूप कहलाता है। अर्थात् पूर्वरूप में उत्पन्न लक्षण या लक्षण समूहों का व्यक्त या स्पष्ट हो जाना रूप कहलाता है लिंग, लक्षण, चिन्ह ये रूप के पर्याय है।

वर्तमान में रूप के दो भेद मिलते है जिसका ज्ञान रोगी से प्रश्न द्वारा ज्ञात किया जाता है।

वर्तमान में रूप के दो भेद मिलते हैं जिसका ज्ञान रोगी से प्रश्न द्वारा किया जाता है। लक्षण – भूख, प्यास, मल, मूत्र, त्याग, अरूचि, पेट की गड़बड़ी का भोजन से संबंध, निन्द्रा की अवस्था में स्वपन के विषय में, रोगी से प्रश्न द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

2. चिन्ह जैसे स्वास के साथ उदर (पेट) की प्राकृत, अप्राकृत गति, मुख (चेहरा), आंख, जीभ, मल–मूत्र आदि का वर्ण (रंग), मल, मूत्रत्याग के समय किसी तरह की कठिनाई यकृत प्लीहा की अवस्था, मृदुता नाड़ी की गति, हृदय फेफड़ा की प्राकृत एवं विकृत ध्वनियां आदि विषयों का प्रत्यक्ष परीक्षा से ज्ञान करना वैद्य या चिकित्सक का कर्त्तव्य हैं इन चिन्हों का ज्ञान चतुर्विध परीक्षा के द्वारा करते है। जैसे –

1. दर्शन, आंखों के द्वारा रोगी को देखकर
2. स्पर्शनं हाथों से स्पर्श करके।
3. अगुलिताडन एवं श्रवण यंत्र के द्वारा हृदय फेफड़ा आदि के प्राकृत एवं विकृत ध्यनियां का ज्ञान, एक्सरे के द्वारा ज्ञात विषय भी इस श्रेणी में आता है।

''उत्पन्न व्याधि बोधकमेव लिंगम रूपम।'' अर्थात् केवल उत्पन्न व्याधि का ज्ञान कराने वाला विशिष्ट लक्षण को रूप कहते है।

उपशय

रोग से उत्पन्न दुख को उचित आहार विहार औषध से शांत करने वाले क्रिया को उपशय कहते है।

आधुनिक वैद्यक में भी (किसी विशिष्ट औषधि का प्रयोग) करते है जैसे आम वात में सैलिसिलेट का प्रयोग करते हैं यदि रोग शांत हुआ तो उस रोग को आमवात मानते है नहीं होने पर अन्य संधिवात रोग मानते है उपशय अध्ययन निम्न स्तरों में किया जाता है जिससे रोगों की शांति होती है।

1. हेतु विपरीत – दोषों के विरूद्ध औषध, आहार, विहार का सेवन करना या कारण के विरूद्ध उपक्रम करना।

जैसे –

1. औषध – शीत कफज ज्वर में सोंठ जैसे उष्ण औषध का प्रयोग। सोंठ उष्ण एवं कफ नाशक होने से शीत कफज ज्वर को शांत करता है।
2. आहार – परिश्रम से होने वाले वातज ज्वर में स्निग्ध मांसरस एवं भात का प्रयोग।
3. विहार – दिन में सोने से कफ प्रकुपित होने पर रात्रि जागरण कराना।

व्याधि विपरीत – रोग के विपरीत औषध आहार, विहार कराना। जैसे–

1. **औषधि** – अतिसार (पतला दस्त होना) में स्तम्भक (रोकने वाली) चिकित्सा नहीं करते हैं परंतु पाठा तथा कुटज का प्रयोग कर अतिसार को रोकना व्याधि विपरीत है।
2. **अन्न** – अतिसार में स्तम्भन के लिए मसुर का प्रयोग हितकर होता है।
3. **विहार** – उदावर्त (वायु का उदर में ऊपर की ओर जाना) में प्रवाहरण (अधो वायु को ताकत लगाकर नीचे भेजना –कांखना) करना।

उभय विपरीत – जो चिकित्सा दोष एवं रोग के विपरीत हो और जिससे रोग एवं दोष का शमन होता है जैसे –

1. **औषधि** – वातिक शोथ में वात के विपरीत एवं शोथ (सुजन) के विपरीत दशमूल क्वाथ देना।

2. **आहार** – वात जन्य ग्रहणी रोग (उदररोग) में तक (मठा) का प्रयोग करना हितकर होता है।
3. **विहार** – ज्यादा तैलीय पदार्थ खाकर दिन में सोने से उत्पन्न आलस्य को दूर करने के लिए व्यायाम एवं रात्री जागरण करना।

हेतु विपरीतार्थकारी – जिस दोष से रोग उत्पन्न हुआ है या जिस कारण (वात, पित्त, प्रकोप) से रोग उत्पन्न हुआ है उसी के समान गुण वाले औषधि, अन्न, विहार का प्रयोग।

1. **औषधि** – पित्त से उत्पन्न फोड़ा में गर्म पुलटिस का प्रयोग करने से फोड़ा फटकर रोग से शांति मिलती है।
2. **आहार** – फोड़ा होने पर खट्टा भोजन करना। ताकि फोड़ा अच्छी तरह पक कर विदीर्ण (फट जाना) हो जाये।
3. **विहार** – उन्माद के पागलपन में रोगी को डराना। भय से वात प्रकुपित होता है फिर भी वात वृद्धि का उपाय करना।

व्याधि विपरीतार्थकारी – रोग के लक्षण से संबंधित औषध, अन्न, विहार का प्रयोग करना।

जैसे –

1. **औषधि** – वमन (उल्टी) होने पर वमन कराने वाली औषधि मदन फल का प्रयोग करना।
2. **अन्न** – अतिसार (अधिक दस्त होना) में दूध का प्रयोग। जबकि दूध दस्त कराता है।
3. **विहार** – छर्दि रोग (उल्टी होना) में, गले में अंगुली डालकर वमन कराना।

उभय विपरीतार्थकारी – कारण एवं रोग दोनों के समधर्म वाले औषध, आहार, विहार कराना।

जैसे –

1. **औषध** – अग्नि से जलने पर उष्ण गुण वाली अगुरू (औषधि) का लेप करना हेतु के समान एवं विष प्रभाव को कम करने विष का प्रयोगव्याधि के समान उपक्रम है।
2. **अन्न** – शराब से उत्पन्न रोग में अन्य भाग नशे का प्रयोग। क्योंकि शराब उत्तेजित करता है, और भांग व्यक्ति को शांत रखता है।
3 **विहार** – व्यायाम से उत्पन्न उरूस्तम्भ (छाती की जकड़ाहट) में तालाब में तैराना रोग को बढ़ाने वाला उपक्रम है।

सम्प्राप्ति

दोष जिस प्रकार विभिन्न कारणों से दूषित होकर ऊर्ध्व, अधः तिर्यक (तिरछा) गति करते हुए धातुओं को दूषित कर रोग को उत्पन्न करता है, उसे सम्प्राप्ति कहते है।

अर्थात् कौन सा वातादि दोष किन कारणों से दूषित हो कर, कितने अंश (मात्रा) में, किस प्रकार गति करते हुए किन–किन अवयवों को दूषित करता हुआ कि कोष्ठ (शरीर में आमाशय आदि) में स्थान संचय (एकत्रित) होकर रोग उत्पन्न करता है इस श्रृंखला का सम्प्राप्ति कहते हैं।

आधुनिक दृष्टि से विकृती विज्ञान को सम्प्राप्ति कहते है।

भेद – सम्प्राप्ति के पांच भेद माने है।

1. संख्या सम्प्राप्ति – आठ प्रकार का ज्वर पांच प्रचार का गुल्म यह संख्या सम्प्राप्ति है।
2. विकल्प सम्प्राप्ति – कौन सा दोष (वातादि) कितना दूषित हुआ है विकल्प सम्प्राप्ति कहते है।
3. प्राधान्य सम्प्राप्ति – दो दोषों से उत्पन्न व्याधि में कौन सी दोष की प्रधानता (ज्यादा) है उसे प्राधान्य सम्प्राप्ति कहते है।
4. बल सम्प्राप्ति – रोग के कारण, पूर्वरूप रूप की सम्पूर्णता या अपूर्णता को देखकर रोग का बल (गंभीरता) का ज्ञान होना बल सम्प्राप्ति है।
5. काल सम्प्राप्ति – जब रात्रि, निद्रा, ऋतु एवं भोजन पाचन आदि (आरंभ), मध्य (बीच), अंत में व्याधि की वृद्धि या उत्पत्ति के द्वारा दोष (वातादि) विशेष का ज्ञान होता है उसे काल सम्प्राप्ति कहते है जैसे – दिन के शुरू में कफ, मध्य (दोपहर) में पित्त अंत (शाम) में वायु प्रकोप होता है।

उपरोक्त पंच निदानों से किसी भी रोग का पूर्णतः निदान (जानकारी) करके उचित चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है।

संख्या सम्प्राप्ति – किसी रोग का वर्णन करते समय वात्तिक, पैत्तिक, कफज आदि दोष भेदों का प्रमुख सहारा लिया जाता है। और दोष भेद से उस रोग के भेद निर्धारित करते है उसे संख्या सम्प्राप्ति कहते हैं जैसे – आठ प्रकार का ज्वर, बीस प्रकार का प्रमेह (मूलरोग) सात प्रकार का अर्श (बवासीर)। इसी तरह दोष के अतिरिक्त व्याधि के स्वरूप–जाति में भिन्नता होने से उसे जाति (आकार या विशेष लक्षण) सम्प्राप्ति कहते है।

जैसे – श्वास (दमा) रोग का, उर्ध्व (ऊपर चलने वाली श्वास), छिन्न (अपनी संपूर्ण

शक्ति लगाकर भी रूक–रूक कर श्वास लेना) या महा श्वास (क्रोधित या थके हुए सांड की तरह फुफकारने या हांफने जैसे श्वास लेना), तमक श्वास (घरघराहट की आवाज के साथ, हृदय में पीड़ा के साथ तीव्र गति से चलने वाला श्वास) अतः श्वासों की गति के आधार पर या विशेषता से उत्पन्न श्वास रोग होना भी संख्या सम्प्राप्ति है।

सम्प्राप्ति के अंतर्गत विधि आदि भेदों की गणना ऋतु अनुसार वात पित्त कफ की अवस्था के अनुसार की जाती है।

	ऋतु	वात	पित्त	कफ
1.	वर्षा ऋतु	प्रधान	–	–
2.	शरद ऋतु	–	प्रधान	–
3.	ग्रीष्म में	–	–	प्रधान

इस तरह उपरोक्त परिस्थितियों में दोषों की प्रधानता एवं वृद्धि स्वाभाविक है अतः इन अवस्था में उत्पन्न व्याधि का सहज निदान हो जाता है। इस बल काल सम्प्राप्ति कहते है।

इस तरह निदान पूर्वरूप, रूप–उपशय सम्प्राप्ति से रोग की निश्चित निदान हो जाती है जिससे चिकित्सा व्यवस्था उत्तम होता हैं।

सारांश

1. इस इकाई के अध्ययन से आपने आयुर्वेद के पंच निदान जैसे – जटिल विषय का सरल अध्ययन किया है।
2. पूर्वरूप–रूप के द्वारा भावी रोग का ज्ञान प्राप्त कर सकते है।
3. उपशय की संक्षिप्त परिचय से रोग शमन का प्रयास कर सकते है।
4. सम्प्राप्ति का परिचय उसका सरल व्याख्या। ये सब उपरोक्त विषय रोग निदान में सहायक होते है।

अभ्यास प्रश्न

1. पंच निदान से आप क्या समझते है? निदान की व्याख्या करें।
2. निदान पंचक के अंतर्गत उपशय एवं सम्प्राप्ति की व्याख्या करें।

आयुर्वेद – प्रबोध

इकाई–3 (रोगी–परीक्षा)

इकाई की रूप रेखा –

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. विषय वस्तु –
    - अष्ट विध रोगी परीक्षा परिचय।
    - नाड़ी परीक्षा का संक्षिप्त परिचय।
    - द्विविध परीक्षा।
    - त्रिविध परीक्षा।
    - चतुर्विध परीक्षा।
    - षड्विध परीक्षा।
4. सारांश।
5. अभ्याय प्रश्न।

1. **उद्देश्य** – इस इकाई में हम रोगी परीक्षा की विभिन्न विधियां का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –
   1. अष्ट विध परीक्षा के अंतर्गत रोगी परीक्षा के संपूर्ण विषय का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
   2. जटिल नाड़ी परीक्षा का सरलता से अध्ययन करेंगे।
   3. द्विविध एवं त्रिविध रोगी परीक्षा का अध्ययन करेंगे।
   4. दर्शन, स्पर्शन, श्रवण आदि विधियों के द्वारा रोगी परीक्षा का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

2. प्रस्तावना – तृतीय प्रश्न पत्र की यह तीसरी इकाई है जैसे–जैसे हम आगे बढ़ते जा रहे है आयुर्वेद शास्त्र के विषयों से अवगत हो रहे हैं। इस पाठ्यक्रम में आयुर्वेद के सभी महत्वपूर्ण सिद्धांतों को श्रेणीबद्ध किया गया है इस संक्षिप्त परिचय में आप आयुर्वेद की जटीलताओं को सहजता से समझकर आत्मसात कर सकेंगे। इस इकाई में अष्ट विध रोगी परीक्षा के अंतर्गत रोगी शरीर परीक्षा की आठ विधि का वर्णन है आयुर्वेद के आचार्यों ने इन विषयों के द्वारा रोगी परीक्षण कर रोग निदान करने की विधि का समझाये है इन्हीं विषयों के अंतर्गत संक्षिप्त में सर्वप्रथम नाड़ी परीक्षा का अध्ययन करेंगे। शरीर में रक्त का परिभ्रमण कराने वाली छोटी बड़ी नलियों को नाड़ी या धमनी कहते है। इन्हीं धमनियों का परीक्षण करना नाड़ी परीक्षा कहलाता है। जिसमें हाथ की अंगूठे के पास स्थित नाड़ी का परीक्षण करते है। दोषों के अनुसार नाड़ी की स्थिति देखी जाती है। जिसके लिए परीक्षक अपने दाएं हाथ के तीन उगलियां तर्जनी, मध्यमा, अनामिका का प्रयोग करते है। और नाड़ी स्पंदन को इन्हीं उगलियों से महसूस करते है। जहां तर्जनी के नीचे स्पंदन होता है। वह वात का स्थान है। मध्यमा के नीचे का स्पंदन पित्त के लिए तथा अनामिका के नीचे महसूस होने वाला स्पंदन कफ के लिए होता है। इन नाड़ी स्पंदनों की दोषों के अनुसार गतियां भी अलग–अलग होती हैं। किसी पदार्थ के सेवन से नाड़ी की गति प्रभावित होती है, औषधि मद्य, विष आदि का शरीर पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका नाड़ी गति से ज्ञान हो जाता है। इसी तरह विभिन्न रोग एवं शरीर अवस्था का ज्ञान नाड़ी गति से होता है। यह बहुत साधना का विषय है, इसकी परीक्षा में बहुत अभ्यास की जरूरत होती है।

इसी तरह मूत्र के वर्ण, मात्रा, अवक्षेप के द्वारा शरीर के प्राकृत एवं विकृत स्थिति का पता चलता है। मल का वर्ण, मात्रा, मल में उपस्थित तत्वों, नेत्र का प्राकृत एवं विकृत वर्ण, जैसे सफेद, पीला, लाल विभिन्न शारीरिक अवस्था को प्रदर्शित करता है। जिभ्या का स्वच्छ या मलाकृत होना स्वर में भिन्नता, मनुष्य का कुबड़ा, अधिक लंबा, अधिक नाटा, त्वचा की विवर्णता, रूखापन, स्निगधता आदि दंत की आकृति, जबड़ों में स्थिरता, नखों की आकृति, वर्ण आदि परीक्षा मनुष्य में उपस्थित रोग का ज्ञान कराता है। त्रिविध एवं चतुर्विध आदि अन्य रोगी परीक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषय को इस इकाई में सरलता से दर्शाया गया है। अतः उपर्युक्त परीक्षा को समझकर रोग विनिश्चय कर सकते है।

विषय–वस्तु
अष्ट विध परीक्षा

रोग की प्रवृत्ति दोषों के अनुसार साध्यता व असाध्यता आदि के ज्ञान के लिए आठ प्रकार की परीक्षा की जाती है, उसे अष्ट विध या अष्टस्थान परीक्षा कहते है।

1. नाड़ी परीक्षा
2. मूत्र परीक्षा
3. मल परीक्षा
4. नेत्र परीक्षा
5. जिभ्या परीक्षा
6. स्वर परीक्षा
7. स्पर्श परीक्षा
8. आकृति परीक्षा

नाड़ी परीक्षा की संक्षिप्त परिचय

आयुर्वेद में व्याधि – निदान को बहुत महत्व दिया गया है। आचार्यों का स्पष्ट निर्देश है कि पहले रोग का ज्ञान करें, तदनंतर अपने पास उपलब्ध औषधि का ज्ञान करें, तब उपचार प्रारंभ करना चाहिए।

आयुर्वेद शास्त्र में रोग निदान के लिए रोगी की परीक्षा है और रोगी परीक्षण के अनेक साधन बताए गए हैं, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण है।

विश्व की सभी चिकित्सा पद्धतियों में रोगी परीक्षा के क्रम में नाड़ी की परीक्षा का विधान है, किंतु जितना व्यापक विचार नाड़ी–परीक्षा के संदर्भ में आयुर्वेद ने किया है, उतना अन्य किसी भी चिकित्सा पद्धति में नहीं किया गया है। आयुर्वेद में नाड़ी–परीक्षा रोग निदान की पर्याय बन चुकी है। किसी वैद्य के पास रोगी आता है, तो बिना अधिक चर्चा किए वह नाड़ी की परीक्षा हेतु अपना हाथ बढ़ा देता है और अपेक्षा रखता है कि वैद्य जी नाड़ी परीक्षा करके मेरा सम्पूर्ण निदान कर दें। कुछ ऐसे नाड़ी वैद्य भी हुए हैं, जो मात्र नाड़ी की परीक्षा करके रोगी के लक्षण, व्याधि, परिणाम और आहार–विहार का सत्य–सत्य वर्णन कर देते है।

वस्तुतः रोगी की परीक्षा का विधान आयुर्वेद में अति प्राचीन है और इन परीक्षणों में स्पर्श–परीक्षा एक स्वतंत्र विज्ञान है। स्पर्श–परीक्षा के अंतर्गत गतिमान या स्फुरण करने वाले अंगों का स्पर्श कर परीक्षा के अंतर्गत गतिमान या स्फुरण

करने वाले अंगों का स्पर्श कर परीक्षा करने का स्पष्ट निर्देश है। इसी क्रम में नाड़ी–परीक्षा आती है। नाड़ी–परीक्षा की व्यापक उपादेयता के कारण यह विज्ञान क्रमशः विकसित होता गया और इसके उन्नति में प्राचीन योग शास्त्र एवं तंत्र–विज्ञान का भरपूर सहयोग मिला है। रावण तथा कणाद् आदि महर्षियों ने नाड़ी शास्त्र पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे हैं एवं योगरत्नाकर, शार्ङ्गधर आदि ने सामग्री प्रस्तुत की है। रोगी का शरीर व्याधि का आश्रय होता है। रूग्णावस्था में शरीर के कुछ अंगों में विशेष परिवर्तन आते हैं, जिनसे व्याधि निदान संबंधी निश्चित संकेत मिलते हैं। आचार्यों ने ऐसे आठ स्थानों (भावों) में नाड़ी, मूत्र, मल, जिव्हा, शब्द, स्पर्श, नेत्र एवं आकृति का वर्णन किया है, जहाँ ये परिवर्तन अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं व्यापक स्वरूप के होते हैं।

वैद्य को रोग ग्रस्त व्यक्ति के इन आठ अंगों की परीक्षा करनी चाहिये। इनमें भी नाड़ी–परीक्षा को प्रथम और अनिवार्य रूप से प्रत्येक आचार्यों ने परिगणित किया है। आयुर्वेद की परंपरा के अनुसार जो विषय प्रधान होता है, उसका प्रथम उल्लेख किया जाता है। इस आधार पर इन परीक्षाओं में नाड़ी–परीक्षा प्रमुख है। अन्य अंगों की परीक्षा स्थानिक विकृतियों या सीमित रूप से सर्वांग विकृतियों को प्रकट करती है, परंतु नाड़ी–परीक्षा की उपादेयता बहुत व्यापक है। नाड़ी के ज्ञान से यह जान लिया जाता है कि शरीर में प्राण है या नहीं। हाथ के अगुंष्ठ मूल के नीचे जो नाड़ी है वह जीवन के साक्षी स्वरूप है। यथा –

नाड़ी की परीक्षा –विधि –

नाड़ी परीक्षा एक तांत्रिक विज्ञान है, अतः उसकी परीक्षा के कुछ सुनिश्चित विधि–विधान है, कुछ निषेध है। नाड़ी परीक्षा संबंधी साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि नाड़ी–परीक्षा के तीन पक्ष है – 1. चिकित्सक संबंधी 2. रोगी संबंधी और 3. परीक्षा संबंधी।

1. चिकित्सक संबंधी –

(i) चिकित्सक को स्थिरचित से तन्मयता के साथ नाड़ी–परीक्षा करनी चाहिये अर्थात् मन तथा बुद्धि से एकाग्रता के साथ नाड़ी–परीक्षा करें।

(ii) नाड़ी–परीक्षा करते समय चिकित्सक सुखापन में पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बैठकर परीक्षण करें।

(iii) चिकित्सक द्वारा मद्य जैसे किसी भी मादक द्रव्य का सेवन करके नाड़ी–परीक्षा करना निषिद्ध है।

(iv) नाड़ी–परीक्षा करते समय मल–मूत्र आदि का दबाव नहीं रहना चाहिये अन्यथा एकाग्रता नहीं बनती है।

(v) धन के लोभ, कामुक चिकित्सक नाड़ी–परीक्षा द्वारा निदान करने में असमर्थ रहते है। अर्थात् लोभ तथा काम वासना रहित होकर नाड़ी–परीक्षण करनी चाहिये।

(vi) चिकित्सक को अपने दायें हाथ की तीन अंगुलियों द्वारा नाड़ी परीक्षा करनी चाहिये।

(vii) नाड़ी परीक्षा में उतावलापन उचित नहीं है। कम से कम दो मिनट नाड़ी–परीक्षा करनी चाहिये।

2. **रोगी संबंधी** –

(i) रोगी ने मल–मूत्र विसर्जन कर लिया हो अर्थात् मलों का वेग धारण नहीं होना चाहिये।

(ii) जब रोगी सुखासन में बैठा हो, हाथ जानु के अंदर हो या आराम से लेटा हो, तब परीक्षा करें।

(iii) वह भूख–प्यास से पीड़ित न हो।

(iv) तत्काल भोजन नहीं किया हो, सोया न हो, धूप से न आया हो।

(v) व्यायाम तथा स्नान करने के तत्काल बाद नाड़ी परीक्षा न करें।

(vi) व्यवाय (मैथुन) किया हुआ न हो एवं भूखे पेट न हो, मद्यपान रहित हो। उपवास न किया हो और शरीर थका न हो।

(vii) काम, क्रोध, शोक, भयग्रस्त, उद्विग्न, चंचल मन वाले रोगी की नाड़ी परीक्षा न करें अथवा उन मनोभावों को शांत कर परीक्षा करनी चाहिये।

इन कारणों से नाड़ी की प्राकृत गति का यथोचित ज्ञान नहीं हो पाता। 'सम्यकनाड़ी न बुध्यते' से यही तात्पर्य है कि इन आहार–विहार, मनोभावों के प्रभाव से नाड़ी की स्वाभाविक गति में परिवर्तन आ जाता है और शरीर दोष एवं रोग संबंधी वास्तविक गति का ज्ञान नहीं हो पाता।

3. **परीक्षा संबंधी** –

(i) प्रातः खाली पेट नाड़ी परीक्षा करने की परंपरा है।

(ii) रोगी को आराम से लिटाकर या बैठाकर नाड़ी परीक्षा करनी चाहिये।

(iii) बैठे हुए रोगी का कुहनी से आगे का हाथ वैद्य अपने बायें हाथ पर रखें।

ऊर्ध्वमुख मुद्रा में फिर मणिबंध संधि में अंगुष्ठ–मूल से एक अंगुल नीचे, तीन अंगुलियों से बहिः प्रकोष्ठ धमनी का परीक्षण करें। बायें हाथ के सहारे के कारण हाथ शिथिल रहता है और नाड़ी की गति स्पष्ट मिलती है।

(iv) रोगी की अंगुलियों को अंदर की ओर थोड़ा मोड़कर केले के समान आकार देकर रखना चाहिये।

(v) स्त्रियों की बायें हाथ की एवं पुरूषों की दायें हाथ की नाड़ी देखने का विधान है। उत्तम तो यह है कि स्त्रियों तथा पुरूषों दोनों ही की नाड़ी दोनों हाथों में देखनी चाहिये। अनेक बार दोनों हाथों की गतियों में परस्पर भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। पुरूष की पहले दायीं फिर बायीं तथा स्त्री की पहले बांयी फिर दायी नाड़ी की परीक्षा करनी चाहिये।

(vi) वैद्य को अपनी तर्जनी, मध्यमा, अनामिका– तीनों अंगुलियों से नाड़ी की परीक्षा करनी चाहिये। एक–एक अंगुली उठाकर फिर थोड़ा दबाव डालकर गति देखनी चाहिये।

(vii) मणिबंध की नाड़ी–गति में भ्रम या अस्पष्टता की स्थिति हो तो अन्य स्थान की नाड़ी देखनी चाहिये और उनका परस्पर समन्वय करके देखा जाना चाहिये।

(viii) परीक्षण हेतु रखी अंगुलियों को उठाकर पुनः नाड़ी पर थोड़ा दबाव डालते हुए तीन बार परीक्षा करनी चाहिये। अब अक्षांश दोष विकृति का या व्याधि का विनिश्चय करना चाहिये।

दोषानुसार नाड़ी की गति –

आयुर्वेद ने स्वास्थ्य एवं रोग इन दोनों के लिये क्रमशः दोषों की साम्यता एवं वैषम्यता को उत्तरदायी माना है। दोषों की तीन अवस्थाएं –

(1) वृद्धि
(2) क्षय एवं
(3) साम्यता या समावस्था।

इनमें समावस्था स्वास्थ्य के लिये और वृद्धि तथा क्षय–अवस्थाएं रोग के लिये कारण भूत होती हैं। अन्य शारीरिक क्रियाओं के साथ–साथ नाड़ी गति में भी इन दोषों की अवस्थाओं का प्रभाव पड़ता हैं।

अर्थात् प्रवृद्ध दोष अपने कार्यों को, गुणों को प्रवृद्ध करते हैं तथा क्षीण हुए दोष अपने कार्यों, गुणों को कम करते हैं, घटाते हैं तथा सम मात्रा में रहने पर वे

अपने निर्धारित कार्यों को सम्पन्न करते है। ठीक इसी प्रकार नाड़ी में इन दोषों की स्थितियां मिलती है। अर्थात् प्रवृद्ध दोष नाड़ी में अपनी लक्षणों को और भी अधिक व्यक्त करते हैं तथा क्षीण दोष अपने गति में ह्रास (कमी) प्रकट करते है। जबकि समावस्था में दोष अपनी निर्धारित गति एवं स्थान पर उपलब्ध होते है। जैसा कि शास्त्रों में उल्लेखित है कि तर्जनी के नीचे वायु, मध्यमा के नीचे पित्त और अनामिका के नीचे कफ की नाड़ी प्रव्यक्त होती है।

प्रव्यक्त से तात्पर्य है कि बिना अधिक दबाव किये नाड़ी का स्पंदन किस अंगुली विशेष के नीचे अधिक उछाल के साथ प्रतीत होता है। इस परीक्षा में अंगुलियों की स्थिति तथा दबाव का विशेष ध्यान रखना चाहिये अर्थात् अंगुली अपने स्थान पर स्थित हो, ऊपर या नीचे न रहे तथा अत्यंत अल्प दबाव देने की अपेक्षा रहती है। अधिक दबाव देने पर प्रव्यक्ता समझने में भ्रम हो सकता है।

गति के अनुसार दोष–ज्ञान –

दोषों के अनुसार कुछ विशिष्ट गतियों का वर्णन बड़ी प्रधानता के साथ आयुर्वेदिक ग्रन्थों में किया गया हैं गति–संख्या की दृष्टि से वात–नाड़ी विषम अर्थात् कभी अल्प, कभी तीव्र तथा कभी मंद गति मिलती है। पित्त के कारण चपला अर्थात् तीव्र गति एवं कफ के कारण स्थिरा या स्तब्धता अर्थात् मंद गति मिलती है –

विशिष्ट नाड़ी–गति के संबंध में विभिन्न प्राणियों की गतियों का उदाहरण देते हुए सभी आचार्यों ने दोषानुसार विशिष्ट नाड़ी गति स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आचार्यो ने बाह्य जगत् के पशु पक्षियों के उदाहरण दिये हैं। जिससे जिज्ञासु को बिना किसी भ्रम के उन गतियों का स्थायी ज्ञान हो सके और सभी की समझ एक सी रहे।

वायु के अनुसार नाड़ी की गति –

वायु के विशेषणों में वक्रा या वक्रा विशिष्ट गति रक्तवाहिनी में अति वक्र विशिष्ट स्वभाव की गति (लहर) से है। नाड़ी–परीक्षा करते समय वैद्य अपनी अंगुलियों को एक रेखा में रखे। अंगुलियों के मध्य में स्थित केन्द्रक जो सर्वाधिक संज्ञावाही होता है, उसे नाड़ी के बीचों–बीच रखना चाहिये और फिर ध्यानपूर्वक देखें कि नाड़ी–संवाहन सीधी रेखा में आ रहा है। अथवा स्पर्श करता हुआ आ रहा है। जैसे सर्प की गति होती है, यही वक्रता हैं। दूसरे प्रकार की वक्रता स्फुरण की उच्चता के आधार पर हो सकती है, जैसा कि जलौका की गति में मिलता है।

पित्तानुसार नाड़ी की गति –

चपला, चपलगा, तीव्रा आदि विशेषण पित्त–प्रभाव से प्रवृद्ध की गति संख्या को सूचित करते हैं अर्थात् पित्त–प्रकोप के सर्वमान्य परिवर्तनों में प्रति मिनट नाड़ी की गति संख्या में वृद्धि अवश्यभावी है, जब किसी जीव काक–मण्डूक आदि की गति के उदाहरण विशिष्ट स्वभाव वाली गतियों के लिये है। ये सभी जंतु उछल–उछल कर चलते हैं अर्थात् इनका एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के मध्य अंतराल रहता है। इस प्रकार पित्त की नाड़ी तय करने के लिये दो प्रमुख आधार बनते हैं–

(1) स्पंदन की उच्चता और
(2) एक स्पंदन के बीच में निर्मित होने वाला अंतराल। इन आधारों पर कह सकते है कि पित्त की नाड़ी तीव्रगति, उच्चस्पंदन युक्त एवं सही अंतराल के साथ उछलती हुई चलती है।

कफ के अनुसार नाड़ी की गति –

स्थिरा, स्तिमितता, स्तब्धा, प्रसन्ना आदि विशेषण कफ–नाड़ी के संदर्भ में मिलते हैं। स्थिरा तथा स्तब्धा से तात्पर्य नाड़ी की गति की कमी तथा नियमितता है। स्तिमितता या चिपचिपापन कफ के अतिरिक्त आम, अजीर्ण–जैसी अन्य अवस्थाओं में भी मिलता है। प्रसन्ना से तात्पर्य यह है कि नाड़ी पूर्ण और एक सी गति से चलती हुई मिलती है।

विशिष्ट गतियों के संदर्भ में हंस, कबूतर तथा हाथी की गतियों का उदाहरण दिया जाता है। ये सभी आराम से बिना उतावलेपन के चलते हैं कफ के प्रभाव से भी नाड़ी बिना अकुलाहट के आराम से चलती है।

रोगों के अनुसार नाड़ी की गति –

रोगों का ज्ञान होना नाड़ी परीक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। विभिन्न नाड़ी–परीक्षा संबंधी ग्रंथों में अनेक विशिष्ट रोगों की विशिष्ट नाड़ी–गतियां वर्णित है। व्यवहार में भी अनेक वैद्यराज नाड़ी परीक्षा द्वारा सटीक रोग–निदान करते हैं।

व्याधि–विशेष में या व्याधि की विशिष्ट अवस्था के अनुसार विशिष्ट नाड़ी–गतियां मिलती हैं जिज्ञासुजन नाड़ी–ग्रंथों का अध्ययन करके इस संदर्भ में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

असाध्यतासूचक नाड़ी की गति –

आयुर्वेद के आचार्यों ने व्याधि की साध्यासाध्यता पर विशेष विचार किया है। रोग का चिकित्साक्रम–निर्धारण एवं परिणाम–ज्ञान के साथ–साथ चिकित्सक के यश की रक्षा भी प्रमुख उद्देश्य हैं। असाध्यता एवं अरिष्टसूचक नाड़ी की गतियों का प्रचुर वर्णन नाड़ी ग्रंथों में मिलता है।

अनेक प्रकार से काल–मर्यादा के साथ नाड़ी की असाध्यता शास्त्र में वर्णित है। यथा प्रहर, ज्वालावधि, सद्योमारक, एकरात्रि, अहोरात्र, त्रिदिवस, सप्तरात्रि, पक्ष या मास आदि। इनके पीछे ऋषियों के अलौकिक ज्ञान की भूमिका रही है। अनेक वैद्यों की इस प्रकार कालावधि के साथ मृत्यु–घोषणा करने हेतु ख्याति रही है। साधारण से दिखते इन लक्षणों का संयोग और उन्हें पकड़ लेने का अभ्यास तथा उत्तम नाड़ी ज्ञान ही इस प्रकार की घोषणा करने की शक्ति दे सकता है।

यदि नाड़ी स्पर्श में बहुत सूक्ष्य (पतली) हो, भिन्न–भिन्न गतियों के साथ जल्दी–जल्दी चल रही हो, भार से दबी हुई सी चले, स्पर्श में गीली–सी लगे, बार–बार स्पर्श अलभ्य हो जाय अर्थात् रह–रहकर स्पंदन रहित होती हो तो उसे असाध्यतासूचक मानना चाहिये।

मृत्युसूचक नाड़ी की गति –

मणिबंध संधि के अपने स्थान से च्युत नाड़ी निश्चित रूप से मृत्यु सूचक होती है।

कुछ आचार्यों के मत से स्थानच्युत नाड़ियां सद्यः मृत्युसूचक होती है अर्थात् शीघ्र ही मृत्यु होगी, यह संकेत देती है।

नाड़ी में बार–बार कंपन हो रहा हो, पतले धागे के समान सूक्ष्य स्पंदन मिल रहा हो तथा अंगुली को स्पर्श करता स्पंदन अत्यंत हल्का (अल्पबल) हो तो निश्चित मृत्युसूचक है।

जब शरीर का ताप अधिक हो एवं नाड़ी स्पर्श में ठंडी हो यदि शरीर ठंडा हो, किंतु नाड़ी स्पर्श में उष्ण हो तथा अनेक प्रकार की गतियों के साथ चलती हो अर्थात् बार–बार जल्दी–जल्दी गति परिवर्तन हो रहा हो वह भी मृत्युसूचक हैं।

इस प्रकार आयुर्वेदीक साहित्य में नाड़ी परीक्षा के संदर्भ में बहुत विस्तार से उपयोगी वर्णन प्राप्त होते है।

नाड़ी–ज्ञान द्वारा दोष का ज्ञान

आयुर्वेद अनादि, शाश्वत एवं आयु का विज्ञान हैं इसकी उत्पत्ति सृष्टि की रचना के साथ हुई। जिन तत्वों से सृष्टि की रचना हुई, उन्हीं तत्वों से ही इसकी उत्पत्ति हुई। रचना एवं क्रिया का संपादन शरीर की प्राकृत एवं विकृत अवस्था पर संभव है। ब्रम्हाण्ड में स्थित तत्वों से पंचभूतों द्वारा सारी सृष्टि प्राणिमात्र–जड़, चेतन, स्थावर, जंगम, खनिज, वनस्पति आदि समस्त वस्तु जाति की रचना हुई है।

आयुर्वेद के मूल स्तंभ पंच्चमहाभूत ही है। शरीर में वात, पित्त एवं कफ के पांच भेदों के आधार पर प्रत्येक दोष के पांच–पांच भेद किये गये है तथा उनके आधार पर शरीर में स्थान, गुण तथा कर्म का वर्णन कर इनके प्राकृत कर्म बताये हैं, यहीं प्राकृत कर्म जब सम रहते हैं तो प्राकृतवस्था अर्थात् स्वस्थ्यता रहती है और इनके विकृत हो जाने पर अप्राकृतवस्था अथवा अस्वस्थता हो जाती है। चिकित्सा–सिद्धांत में भी पंच्चमहाभूतों की प्रधानता होने से जो मूल भूत चिकित्सा है, उसमें क्षीण हुए दोष एवं महाभूतों की वृद्धि करना और जो बढ़े हुए है। उनका ह्रास करना तथा सम का पालन करना ही चिकित्सा है।

वात

शरीस्थ वायु – दोष के शरीर के उत्तमांग से मूलाधार तक क्रमशः पांच भेद किये है –

प्राण–मूर्धा में। उदान–उरःप्रदेश में। समान–कोष्ठ में। व्यान–सर्व शरीर में। अपान– मूलाधार में।

इनमें महाभूतों की अधिकता को यदि लें तो प्राणवायु आकाश महाभूत–प्रधान, उदार अप् महाभूत–प्रधान, समान तैजस महाभूत–प्रधान, व्यान वायु तथा अपान पृथ्वी महाभूत प्रधान है।

पित्त

शरीर के उत्तमाँग से अधोभाग तक महाभूतों की प्रधानता से पांच भेद किए गए हैं, जैसे– आलोचक नेत्र, तैजस महाभूत–प्रधान।

साधक – हृदय, आकाश महाभूत–प्रधान।
पाचक – कोष्ठ, पृथ्वी तत्व–प्रधान।
रजक – यकृत प्लीहा, अप् महाभूत–प्रधान।
भ्राजक – सर्वशरीरगत त्वक् वायु महाभूत–प्रधान।

कफ

इसी प्रकार कफ के भी पांच भेद हैं–

बोधक	–	जिह्वा में, तैजस महाभूत–प्रधान।
क्लेदक	–	आमाशय में अप् महाभूत–प्रधान।
अवलम्बक	–	हृदय में पृथ्वी महाभूत–प्रधान।
तर्पक	–	इन्द्रियों में आकाश महाभूत–प्रधान।
श्लेषक	–	संधियों में वायु महाभूत–प्रधान।

इस प्रकार हम देखते है कि शरीर में सबके स्थान नियत हैं, और प्रत्येक के कर्म भी शास्त्र में वर्णित हैं। परीक्षण से पूर्व इनका ज्ञान होना नितांत आवश्यक है क्योंकि नाड़ी ज्ञान इनके बिना संभव नहीं।

नाड़ी ज्ञान प्रक्रिया

पुरूष के दाएं हाथ एवं स्त्री के बाएं हाथ के अंगुष्ठ मूल रूप से कुछ दूरी पर तर्जनी, मध्यमा, अनामिका को क्रमशः रखकर कूर्पर–संधि को आश्रित न रखते हुए 90% डिग्री के कोण पर चिकित्सक ध्यानस्थ हो हृदय से आने वाले स्पंदन का अनुभव करें। तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका के स्पंदनों को तरतम–विधि से ज्ञात करके प्रत्येक अंगुली के नीचे पांचों भेदों को तर्जनी के नीचे पांचों वायु, मध्यमा के नीचे पित्त तथा अनामिका के नीचे पांचों कफ का ज्ञान प्राप्त करें और उसके स्थान पर कर्म का ज्ञान होने पर उनसे होने वाले कर्मों के लक्षण वाली व्याधि सुनिश्चित करें। किसी कर्म को प्रश्न के रूप में पूछने पर यथार्थता का ज्ञान करें। दोष–भेद से भी नाड़ी परीक्षा है। दोषों के अक्षांश की वृद्धि(भेद स्वरूप) तर्जनी तथा अनामिका के स्पर्श में स्पष्ट तरंगित होती हैं।

नाड़ी एवं नाड़ी ज्ञान द्वारा रोगों का ज्ञान प्राप्त करना एक असाधारण कार्य है। इसके लिए विपुल समझ एवं विपुल अनुभव की उपेक्षा है। यहां अत्यंत संक्षिप्त रूप में दिशा–निर्देश किया गया है।

मूत्र परीक्षा

रोगों के मूत्र का परीक्षण करने के लिए ब्रम्ह्म मुहूर्त के समय का अर्थात् जब रोगी बिस्तर में सोकर उठता है, उस समय का मूत्र इकट्ठा किया जाता है। मूत्र त्याग के समय प्रारंभ का मूत्र छोड़ देना चाहिए, उसके बाद का मूत्र एक साफ कांच के बर्तन में इकट्ठा करना चाहिए। बर्तन का मुंह साफ कपड़े या ढ़क्कन से

ढ़क देना चाहिए। सूर्योदय के समय इस मूत्र का परीक्षण प्रारंभ किया जाता है।

रोग का विस्तृत जानकारी के लिए इस मूत्र का साफ व खुले मुंह वाले कांच के बर्तन में रखें और उस पर तेल की कुछ बूंदें टपका दें। यदि यह तेल एकदम फैल जाता है, तो इसका अर्थ है कि रोग साध्य है अर्थात् रोग आसानी से ठीक हो जाएगा। यदि तेल धीरे–धीरे फैलता है, तो इसका अर्थ है कि रोगी मुश्किल से ठीक होगा, और यदि तेल की बूंदें मूत्र के नीचे बैठ जाती है तो निश्चित है कि रोगी की मृत्यु हो जाएगी।

मूत्र की सतह पर बूंदें टपकाने से यदि बुलबुले से उठने लगे तो समझना चाहिए कि पित्त की प्रधानता है अथवा रोग पैत्तिक है। यदि मूत्र स्निग्ध हैं, तथा तेल का बूंदें मूत्र पर ही स्थिर रहती है तो इसका तात्पर्य है कि रोग वातिक प्रकृति का है। यदि मूत्र कीचड़ से युक्त की तरह गदला दिखाई दें, तो कफ दोष की प्रधानता माननी चाहिए।

यदि मूत्र में डाली गई तेल की बूंदें पूर्व दिशा की ओर फैल जाएं तो समझना चाहिए कि रोगी बहुत शीघ्र ही रोग से छुटकारा पा जाएगा। यदि तेल की ये बूंदें दक्षिण दिशा की ओर फैले तो समझना चाहिए कि रोगी ज्वर से पीड़ित है और ज्वर धीरे–धीरे ठीक होगा। यदि ये बूंदें उत्तर अथवा पश्चिम की ओर फैले तो निःसंदेह व्यक्ति किसी भी रोग से पीड़ित नहीं है अर्थात् वह स्वस्थ है। और यदि तेल की ये बूंदें दक्षिण–पूर्व की ओर फैल जाएं और तेल में छिद्र से दिखाई पड़े तो निश्चित है कि रोगी की मृत्यु हो जाएगी। इस प्रकार, आयुर्वेद मे मूत्र परीक्षा द्वारा रोग के निदान एवं उसकी साध्यता अथवा असाध्यता के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए विस्तृत उल्लेख मिलता है।

यदि मूत्र नींबू के ताजे रस, सामान्य जल अथवा चंदन के कल्फ (Paste) के समान दिखाई देता है, तो इसका अर्थ है कि रोगी अपच (indigestion) से पीड़ित है। यदि रोगी अपच के रोगों से पीड़ित हैं, तो उसका मूत्र चांवल की धोवल (rice wash) के सदृश दिखाई देता है। कभी–कभी रोगी के मूत्र में बकरी तथा गधे के मूत्र के समान तीव्र दुर्गंध भी पाई जाती है। यदि रोगी तीव्र अथवा भयंकर ज्वर से पीड़ित हैं, तो उसके मूत्र का रंग धुएं या बादलों के समान होगा तथा वह अधिक मात्रा में मूत्र त्याग करेगा।

मूत्र के रंग के आधार पर भी रोगी अथवा रोग की प्रकृति की निश्चय किया जा सकता है। यदि मूत्र हल्के पीले रंग का हैं, तो इसका अर्थ है कि रोगी में वायु दोष की प्रधानता है। यदि मूत्र का रंग सफेद है, और उसमें झाग है तो कफ दोष की प्रधानता मानी जाती है। और यदि मूत्र का रंग पीला अथवा लाल है, तो रोगी

में पित्त दोष की अधिकता मानी जाती है। इसी प्रकार यदि रोगी में पित्त अथवा वायु दोष प्रकुपित है तो मूत्र धुएं से युक्त जल के समान दिखाई देता है तथा स्पर्श में हल्का गर्म होता है। रोगी में वायु और कफ दोषों की अधिकता होने पर मूत्र का रंग सफेद होगा तथा उसमें अधिक बुलबुले उठेंगे। कफ तथा पित्त दोषों की अधिकता होने पर रोगी का मूत्र बादलों के समान मैला तथा लाल रंग का होता हैं। पुराने ज्वर में मूत्र रक्त के समान लाल व पीले रंग का होता है। यदि मूत्र का रंग काला है तथा वह पारदर्शी (Transparant) है, तो इसका अर्थ है कि रोगी सान्निपातिक (तीनों दोषों के प्रकोप से होन वाले) रोग से पीड़ित हैं।

मल परीक्षा

पुरीष के रंग आदि के आधार पर भी रोग की प्रकृति जानने में सहायता मिलती है। यदि पुरीष गाढ़ा नीलापन लिये हुए काले रंग का है, तो इसका तात्पर्य है कि रोगी में वायु दोष प्रकुपित है। ऐसी स्थिति में पुरीष कठोर और शुष्क होता है। रोगी छोटे–छोटे टुकड़ों में, झागयुक्त तथा खुरदरे मल का विसर्जन करता है। यदि पुरीष का रंग हरा अथवा पीला है तो रोगी में पित्त दोष का प्रकोप माना जाता है, तथा यदि इसका रंग सफेद है, तो कफ दोष का प्रकोप माना जाता है। कफज रोगों की स्थिति में रोगी रोमांच के साथ बहुत अधिक मात्रा में गठे हुए काला तथा सफेद मल हो, तो रोग वायु और कफ दोषों से उत्पन्न माना जाना चाहिए। वायु और पित्त दोषों के प्रकोप से होने वाले रोगों में मल पीलापन लिये होता है तथा यह गंठा हुआ परंतु टुकड़ों में विसर्जित होता है।

यदि मल में बहुत अधिक दुर्गंध है और पुरीष का थोड़ा सा अंश पानी में डालने पर पानी में डूब जाएं, तो समझना चाहिए कि रोगी में आम दोष (अधपचा भोजन) विद्यमान है यदि यह मलांश जल के ऊपर तैरता रहे, तो रोगी को इस प्रकार के विकार से मुक्त मानना चाहिए।

यदि रोगी सफेद और अत्यधिक दुर्गंधियुक्त मल का विसर्जन करता है, तो उसमें जलोदर (ascites) रोग का प्रारंभ माना जाता है। यदि रोगी काले अथवा नील युक्त काले रंग का तथा अति दुर्गन्धियुक्त मल का त्याग करता है, तो उसकी मृत्यु निश्चित समझनी चाहिए। इस प्रकार, पुरीष के रंग, आकार तथा गंध के आधार पर रोग की प्रकृति एवं उसकी साध्यता का ज्ञान आयुर्वेदिक छात्र कर सकता है।

नेत्र परीक्षा

रोगी के नेत्रों का रंग व अन्य स्थिति देखकर भी चिकित्सक रोग की प्रकृति के बारे में बहुत कुछ जान सकता है। यदि आंखें धूम्र वर्ण की, रूक्ष तथा डरावतनी भी दिखाई दें, आंखें की पुतली चंचल हो और आंखों में जलन महसूस करता है, तो वायु दोष की प्रधानता समझनी चाहिए। यदि रोगी में पित्त दोष की अधिकता है, तो उसकी आंखों का रंग हल्दी के समान पीला, लाल अथवा नीला होगा। उसे रोशनी अच्छी नहीं लगती तथा आंखों में जल प्रवाहित होती है। कफज रोगों की स्थिति में आंखों का रंग सफेद होता है तथा आंखें स्निग्ध होती है। आंखों में बहुत अधिक स्त्राव होता है। आंखों में चमक नहीं होती अर्थात् अलसायी हुई लगती है। आंखों की पुतली चंचल होती हैं यदि रोगी में कोई दोष प्रकुपित हैं, तो उन उन दोषों के लक्षण में पाये जाते हैं तीनों दोषों का एक साथ प्रकोप होने पर आंखों का रंग नीलापन लिये काला होता है। दृष्टि तथा आंखें डरावनी तथा तन्द्रायुक्त दिखाई देती है।

यदि रोगी की एक आंख डरावनी अथवा क्रुद्ध दिखाई दे और दूसरी बंद हो, तो समझना चाहिए कि रोगी तीन दिन के अंदर मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा। यदि आंखें लाल अथवा काले रंग की हों तथा डरावनी प्रतीत हों तो रोगी की मृत्यु निश्चित समझनी चाहिए। इस प्रकार रोग के निदान और उसकी साध्यता अथवा असाध्यता को जानने के लिए आंखों की परीक्षा का विशेष महत्व है।

जिह्वा परीक्षा

ऐसा माना जाता है कि प्राण जिह्वा के माध्यम से गति करते है। इसी के माध्यम से मनुष्य भोजन ग्रहण करता व बोलता है। इसके अतिरिक्त, यह बहुत सूक्ष्म इन्द्रिय हैं, अतः यह महत्वपूर्ण अंग माना गया है। चिकित्सक को भी जिह्वा की परीक्षा के द्वारा रोगी की स्थिति जानने में बहुत सहायता मिलती है। अतः उसे ध्यानपूर्वक जिह्वा की परीक्षा करनी चाहिए।

जिह्वा को देखकर वह रोगी के शरीर में दोषों की स्थिति का निश्चय कर सकता है। यदि जीभ ठंडी और सुन्न हो, स्पर्श में खुरदरी हो तथा उसमें दरारें सी दिखाई दें, तो रोगी में वायु दोष की प्रधानता होती है। यदि जीभ का रंग लाल या नीला हो, उसमें जलन सी प्रतीत हो तथा कांटे–कांटे से दिखाई दें, तो रोगी में पित्त दोष की अधिकता मानी जाती है। कफ के प्रकुपित होने पर जिह्वा का

रंग सफेद होता है। यह बहुत ठंडी भारी तथा मोटी सी प्रतीत होती है। और यदि रोगी मे तीनों दोष एक साथ प्रकुपित हो (सन्निपात), तो जिह्वा का रंग काला होता है। यह रूक्ष, तिक्त, जली हुई सी, दरार युक्त, कांटेदार तथा खुरदरी होती है।

इस प्रकार, जिह्वा से रोगी के ज्वर की स्थिति तथा रोग की साध्यता व असाध्यता का भी ज्ञान होता है।

स्वर परीक्षा

रोगी की आवाज (स्वर) के आधार पर भी रोग की प्रकृति जानी जा सकती है। यदि रोगी का स्वर शुष्क और कठोर (hoarse) हो, तो वायु दोष की प्रधानता होती है। साफ और तीखी (तेज) आवाज से पता चलता है कि रोगी में पित्त दोष की प्रधानता है तथा भारी आवाज से समझना चाहिए कि कफ दोष प्रकुपित है।

स्पर्श (त्वचा) परीक्षा

त्वचा का स्पर्श करके भी रोग की प्रकृति जानी जा सकती है। जैसे– यदि त्वचा स्पर्श में ठंडी प्रतीत हो, तो रोग वायु दोष से उत्पन्न माना जाना चाहिए। यदि रोगी की त्वचा गर्म हो, तो रोग पित्त दोष से, और यदि त्वचा गीली और नमी से युक्त हो तो रोग को कफ दोष से उत्पन्न मानना चाहिए।

आकृति एवं रूप परीक्षा

उपरोक्त प्रकार से परीक्षण के अतिरिक्त कुछ अन्य बातों से भी चिकित्सक को रोग की प्रकृति जानने में सहायता मिलती है। जैसे – यदि रोगी की त्वचा और बाल अधिकतर शुष्क (रूखे) और फटे हुए से (Cracked) है। यदि उसे ठंडी चीजें अधिक अच्छी नहीं लगती, यदि उसमें धैर्य, स्मरण, शक्ति, बुद्धि, प्रयत्न और मैत्रीभाव की कमी है, तथा यदि वह बातूनी है, तो उसे वायु प्रधान प्रकृति वाला मानना चाहिए।

जिसकी त्वचा पीले रंग की और उष्ण हैं, जिसकी हथेलियों, तलुओं और चेहरे का रंग ताम्र जैसा है, जिसके शरीर पर बाल कम तथा सुनहरे से रंग के होते हैं ऐसे व्यक्ति पित्त प्रकृति वाले माने जाते हैं। इस प्रकृति के लोग प्रायः उग्र व अहंकारी स्वभाव के होते है।

कफ प्रधान प्रकृति वाले रोगियों के जोड़, अस्थियां तथा मांसपेशियां गठित होती है। उनकी त्वचा का रंग सफेद होता है। ऐसे व्यक्तियों को प्रायः भूख,

प्यास, शोक व दर्द आदि बहुत अधिक पीड़ित नहीं कर पाते।

उपरोक्त प्रमुख आठ प्रकार के परीक्षणों के अतिरिक्त बहुत से वैद्य अथवा चिकित्सक रोगी के दांतों और नाखूनों द्वारा भी रोग का निदान करते है।

दंत परीक्षा

दांतों का परीक्षण करने पर, यदि दांत नीले रंग के हों, तो वायु दोष की प्रधानता मानी जाती है और यदि दांत भूरे (brown) रंग के हैं, तो पित्त दोष की अधिकता है। यदि रोगी में वायु और पित्त दोष इकट्ठे प्रकुपित हों, तो दांत काले और नीलापन लिये भूरे रंग के होते हैं। वायु और कफ इन दोनों दोषों का प्रकोप होने पर दांतों (मसूड़ों) और जिह्वा से शोथ होता है। पित्त और कफ दोषों की प्रधानता होने पर नाखून पीले या सफेद रंग के हो जाते है। यदि तीनों दोषों के लक्षण पाये जाए, तो सान्निपातिक रोग माना जाता है। सन्निपात में, यदि नाखूनों का रंग लाली लिए हुए नीला, पीला, हरा या सफेद हो जाए, तो रोगी की मृत्यु हो सकती है। इस प्रकार चिकित्सक नाखूनों को देखकर भी रोग का निर्णय कर सकता है।

रोगी की आयु की परीक्षा

मनुष्य की सामान्य आयु 100 वर्ष मानी गई है। इस जीवनावधि को संक्षेप में तीन अवस्थाओं में बांटा गया है।

1. बाल अथवा बाल्य अवस्था : जन्म से 16 वर्ष की आयु तक मनुष्य बाल अथवा बालक कहलाता है, यही उसकी बाल्यावस्था।
2. मध्य अथवा यौवन अवस्था 16 से 70 वर्ष की आयु मध्यावस्था कहलाती है। इस मध्यावस्था को भी तीन भागों बांटा गया है–

(i) वृद्धि काल : 16 से 20 वर्ष तक की आयु का समय वृद्धि काल माना गया है, जिसमें शरीर की धातुओं में तीव्रता से वृद्धि होती है।

(ii) यौवन काल : 21 से 30 वर्ष की आयु मनुष्य का यौवन काल माना जाता है। इसअवधि के दौरान उसके सभी धातु तथा सभी इन्द्रियों बल, शक्ति और वीर्य से भरपूर हो जाते है।

(iii) सर्व संपूर्णता : इसके पश्चात् 70 वर्ष तक की आयु का समय, जबकि उसके शरीर में धातुओं आदि में और अधिक वृद्धि तो नहीं होती, परंतु पहली शक्ति तथा बल शरीर में स्थिर रहते है।

वृद्धावस्था – 70 वर्ष के पश्चात् 100 वर्ष तक मनुष्य की वृद्धावस्था अथवा बुढ़ापा माना गया है। इस अवधि में उसके धातु तथा शक्ति आदि में क्षीणता प्रारंभ हो जाती है और इन्द्रियां शिथिल होने लगती है। परिणामतः वह अनेक रोगों का शिकार होने लगता है।

त्रिविध परीक्षा

1. आप्तों देश
2. प्रत्यक्ष
3. अनुमान

इनके द्वारा रोगी परीक्षा को त्रिविध परीक्षा कहते है।

1. **आप्तों देश** – बुद्धिमान वैद्य या आचार्यों के द्वारा रोगी परीक्षा के लिए दिए गए उपदेश के द्वारा रोगी की परीक्षा करना आप्तों देश कहलाता है।

2. **प्रत्यक्ष** – इसमें सभी इन्द्रियों रस ज्ञान को छोड़कर अन्य की परीक्षा की जाती है, जिसके अंतर्गत श्रोत द्वारा परीक्षा में आंतों की गुड़गुड़ाहट, संधि और अंगुली पर्वतों का फूटना, स्वर भेद हृदय फेफड़ा आदि के शब्द का ज्ञान किया जाता है।

ब. चक्षु द्वारा परीक्षा में वर्ण, आकार, प्रमाण छाया इसके शरीर में स्वाभाविक या विकृत गन्धों की परीक्षा नाक से करनी चाहिए।

स. ध्राण द्वारा परीक्षा रोगी के संपूर्ण शरीर में व्याप्त हुए स्वाभाविक या विकृत गन्धों की परीक्षा नाक से करनी चाहिए।

द. स्पर्श द्वारा परीक्षा में शरीर का तापक्रम, अवयवों की स्थिति की परीक्षा हाथ से की जाती है।

इ. रसना द्वारा परीक्षा का ज्ञान अनुमान से या रोगी से प्रश्न द्वारा प्राप्त किया जाता है। जैसे मुख का स्वाद कैसा, शरीर में जुएं लीख आदि होने से मक्खियों के शरीर में अधिक बैठने से शरीर में रस विकृति का ज्ञान होता है।

3. अनुमान द्वारा – इसके अंतर्गत पाचन शक्ति से अग्नि की, व्यायाम शक्ति से बल की शब्दादि विषय की ग्रहण शक्ति से इन्द्रियों की परीक्षा की जाती है।

आचार्य वाग्भट ने तीन प्रकार के परीक्षा बताये है।

(1) दर्शन (2) स्पर्शन (3) प्रश्न

चतुर्विध परीक्षा – (1) आप्तो देश (2) प्रत्यक्ष (3) अनुमान (4) युक्ति परीक्षा।

पंचविध रोगी परीक्षा – आधुनिक चिकित्सा पांच प्रकार के रोगी परीक्षा करते है। (1) प्रश्न (2) दर्शन (3) स्पर्शन (4) अंगुलिताड़न (5) श्रवण।

षड्विध परीक्षा – 1. श्रोतेन्द्रिय द्वारा 2. घ्राणेन्द्रिय द्वारा 3. स्पर्शन्द्रिय द्वारा 4. चक्षुरिन्द्रिय द्वारा 5. रसेन्द्रिय द्वारा 6. प्रश्न।

सारांश

1. आप इकाई 3 रोगी की परीक्षा के अंतर्गत सर्वप्रथम अष्ट विध परीक्षा से परिचित हुए।

2. नाड़ी परीक्षा के अंतर्गत नाड़ी देखने की विधि, दोषों के अनुसार नाड़ी गति आदि का वर्ण है।

3. मूत्र परीक्षा एवं मल परीक्षा के अंतर्गत मल मूत्र का वर्ण, मात्रा उस उपस्थित अन्य तत्वों की मात्रा का परीक्षा करना।

4. नेत्र जिभ्या स्वर की विकृति का ज्ञान।

5. इसी तरह उम्र के अनुसार शरीर की आकृति, त्वचा का रंग, नख, नेत्र, दांतों की परीक्षा बताई गई है।

6. द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध एवं पंचविध रोगी परीक्षा का अध्ययन कराया गया है।

7. सर्वमहत्वपूर्ण षड्विद परीक्षा से परिचय कराया गया है।

अभ्यास प्रश्न

1. अष्ट विध परीक्षा के बारे में आप क्या जानते हैं।
2. नाड़ी परीक्षा से आप क्या समझते है।
3. मूत्र एवं मल परीक्षा कैसे करेंगे।
4. आकृति, रूप दंत एवं नख परीक्षा विधि लिखें।

आयुर्वेद–प्रबोध

इकाई –4 (आहार–विज्ञान)

इकाई की रूपरेखा –

1. उद्देश्य।
2. प्रस्तावना।
3. विषय वस्तु –
    - अष्ट विध आहार विशेष आयतन परिचय।
    - आहार आचार संहिता परिचय।
    - आहार पाचन, पोषण का महत्व।
    - आहार द्रव्यों का वर्गीकरण।
    - हितकर एवं अहितकर आहार परिचय।
4. सारांश।
5. अभ्यास प्रश्न।

1. उद्देश्य – इस इकाई मे हम आहार से संबंधित, आचार संहिता, आहार एवं पाचन पोषण का महत्व, आहार द्रव्यों का वर्गीकरण पढेंगे।

- आहार के महत्व को समझेंगे।
- आहार संस्कार का परिचय प्राप्त करेंगे।
- आहार संहिता का पालन करना सीखेंगे।
- आहार पाचन एवं पोषण के महत्व को समझेंगे।

2. प्रस्तावना – इस इकाई में आप आहार एवं पोषण से संबंधित परिभाषाओं, अष्टविध, आहार विशेष आयतन में संस्कार, कारण, संयोग आदि के द्वारा आहार द्रव्यों की गुणों में होने वाली वृद्धि की क्रिया को समझेंगे। भोजन करने का सिद्धांत जिसे आहार आचार संहिता कहते हैं इस विषय के अंतर्गत भोजन करने की सैद्धांतिक बातों का अध्ययन एवं अनुसरण कर भोजन को पूर्ण आत्म सात करेंगे। इससे भोजन का संपूर्ण भाग का पाचन एवं शोषण होता है जिससे शरीर को ऊर्जा एवं शक्ति मिलती है।

हमारे द्वारा मुक्त आहार को विभिन्न वर्गों में बांटा गया है। जैसे–धान्य (धान) वर्ग, मांस वर्ग, दुग्ध वर्ग, दधि वर्ग, घृत वर्ग इत्यादि वर्गों के भिन्न–भिन्न द्रव्यों का नाम का परिचय का अध्ययन करेंगे एवं उनकी विशेषता के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

यह इकाई मनुष्य की मुख्य आवश्यकता भोजन से संबंधित है। जिसका अनुसरण कर आप स्वयं अपने स्वास्थ्य को उत्तम रख सकते है। आयुर्वेद शास्त्र में त्रिउपस्तंभ के अंतर्गत आहार महत्वपूर्ण विषय है। साथ ही हमारे शरीर के लिए हितकर एवं अहितकर आहार के विषय में अध्ययन करेंगे।

विषय वस्तु

आहार की परिभाषा एवं परिचय – जिस द्रव्य को निगला जाता है उसे आहार कहते हैं।प्रारंभ के इकाईयों में आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों को विवेचन करते हुए दोषों का विशेष महत्व बताया गया है। ये तीनों दोष (वायु, पित्त तथा कफ) अपनी सम अथवा अविकृत अवस्था में शरीर को धारण किये रहते हैं। जिस प्रकार इन्हें शरीर के तीन स्तंभ कहा जाता हैं, उसी प्रकार आरोग्य अथवा स्वास्थ्य के रक्षण में आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य के महत्व को देखते हुए इन्हें आयुर्वेद के तीन उपस्तंभ माना गया है। स्वास्थ्य, शब्दांतर में कहें तो दोषों की साम्यावस्थ को बनाये रखने के लिए उचित मात्रा में व विधिपूर्वक भोजन, नींद और मैथुन का सेवन करना अत्यावश्यक है। इनकी सीमा का उल्लंघन करना रोगों व मृत्यु को निमंत्रण देना है।

इस संबंध में आहार के विषय में कुछ विशेष बातों का ज्ञात होना अत्यावश्यक है। यह तो सर्वविदित तथ्य है कि हमें खान–पान की आवश्यकता शरीर की शक्ति व ऊर्जा को बनाये रखने व शरीर की समस्त क्रियाओं को सुचारू रूप से चलाने के लिए ही होती है। वस्तुतः भूख नाम ही शरीर की आहार–विषयक (विषयक शक्ति उत्पन्न करने वाले आहार की आवश्यकता पूर्ति के लिए होने वाली) स्वाभाविक अंतःप्रेरणा का है और प्यास जल–विषयक आवश्यकता की प्रेरणा का। इस भूख के परिणाम स्वरूप हम जो भी आहार ग्रहण करते हैं, वह पाचकाग्नि की क्रिया से अति सूक्ष्म स्त्रोतों में प्रवेश करने योग्य हो जाता है। यह सूक्ष्म अंश पक्व भोजन का सार–भाग अथवा अन्नरस है, जो पुरीष (Stool), आदि मल (किट्ट) भाग से अलग हो जाता है। पुरीषादि मल भाग तो शरीर के विसर्जन मार्गों (गुदा आदि) द्वारा विसर्जित हो जाता है तथा रस भाग हृदय में और वहां से धमनियों द्वारा शरीर के सभी अंगों में पहुंचकर उन्हें शक्ति व ऊर्जा प्रदान करता है। पहले भी बताया गया है कि भोजन की इस महत्वपूर्ण पाक क्रिया में पाचकाग्नि का सर्वप्रमुख स्थान है। इस पाचकाग्नि की ऊष्मा के बिना तो भोजन का पाक होना असंभव ही हैं। अतः इस अग्नि को सम बनाये रखने के लिए आयुर्वेद में विशेष महत्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त वायु, क्लेदत्व (द्रवत्व–लाला स्त्राव आदि) घृत आदि स्नेह, काल तथा स्वास्थ्य संबंधी नियमों का पालन करते हुए अन्न का सेवन करना, आदि तत्व भी भोजन के पाचन में सहायक है।

वायु अग्नि को प्रदीप्त रखता तथा ग्रहण किये अन्नपान को अग्नि के समीप

अर्थात् मुख, आमाशय तथा आंतों के पाचक रसों के संसर्ग में लाता है। इन्हीं पाचक रसों के संसर्ग से ही भोजन का पाक संभव है। शरीर में स्थित लाला स्त्राव आदि पाचक–रस तथा भोजन के साथ ग्रहण किये गये जलादि द्रव पदार्थ आहार द्रव्यों के ठोसपन (घनत्व) को नष्ट करके उन्हें शिथिल बना देते हैं। इससे पाचक रसों द्वारा उनका पाक आसानी से हो जाता है। इस प्रकार, ये तत्व भी भोजन के पाचन मे सहायक है।

आहार द्रव्यों में घृत आदि स्निग्ध पदार्थों का महत्व –

हमारे भोजन में घृत, तेल आदि स्निग्ध पदार्थों की भी अत्यावश्यकता होती है। कुछ लोग मोटापे (Obesity) तथा हृदयरोगों के भय से इन स्निग्ध पदार्थों का प्रयोग बिल्कुल नहीं करते, जो अनुचित है। क्योंकि इन स्निग्ध पदार्थों से भोजन में मृदुता आ जाती है। इसके अतिरिक्त, इन पदार्थों के प्रयोग से भोजन स्वादु बनता है। ये अग्नि को प्रदीप्त करते हैं, भोजन को सुपाच्य बनाते हैं, एवं वायु का अनुलोमन करते है। स्निग्ध पदार्थों से बल की वृद्धि होती है। इन्द्रियों में दृढ़ता आती है व वर्ण (Complexion) को निखारता है। अतः भोजन में स्निग्ध पदार्थों का प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

भोजन का उचित काल –

इन उपरोक्त तत्वों के अतिरिक्त आहार के सम्यक पाचन के लिए उचित व नियत काल में आहार का ग्रहण करना भी अत्यावश्यक है। सर्वप्रथम तो जिस समय क्षुधा का वेग अनुभव हो अर्थात् भूख की अनुभूति हो और प्यास का अनुभव हो तभी अन्नपान ग्रहण करना चाहिए। भूख का उदय पहले ग्रहण किये भोजन के पाचन होने के पश्चात् ही होता है। जब तक पहला भोजन का पाचन न हो जाय तब तक पुनः भोजन नहीं करना चाहिए अन्यथा पहले भोजन का अधपचा रस तथा बाद में किये गये भोजन का रस आपस में मिलकर सभी दोषों को प्रकुपित कर देते है। परिणामतः अनेक रोगों की उत्पत्ति हो सकती है। अतः भोजन ग्रहण का उचित समय वही है जब पूर्व ग्रहण किया भोजन का पाचन हो जाए, भोजन पाक की विभिन्न अवस्थाओं में प्रकुपित दोष समावस्था में आ जायें, अग्नि प्रदीप्त होकर क्षुधा वेग का उदय हो जाए, हृदय पर भारीपन न रहे, वात का अनुलोमन हो जाए तथा पुरीष, मूत्र और वायु का उत्सर्ग हो जाए। ऐसे समय पर किया गया भोजन सभी दोषों, धातुओं और मलों को समावस्था में लाकर शरीर को पुष्ट करता है।

इसके विपरीत, भूख लगने पर भी यदि भोजन ग्रहण न किया जाए तो कृशता, दुर्बलता, अंगमर्द (Malaidr), तंद्रा (Drowsiness), अरूचि (कुछ समय पश्चात् क्षुधा का लुप्त हो जाना), भ्रम, विवर्णता(त्वचाा के रंग का विकृत होना) तथा दृष्टि में कमी आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते है। इसी प्रकार, प्यास लगने पर पानी न पीने से कंठ तथा मुख में शोष, बहरापन, थकावट, अंगसाद तथा हृदय में पीड़ा आदि होने लगते हैं। काल के संदर्भ में आयुर्वेद की दृष्टि से एक अन्य तथ्य भी विचारणीय है। आयुर्वेद के मत से शरीर में अलग–अलग समय में अलग–अलग दोषों की वृद्धि होती है। एतदनुसार पित्त की वृद्धि का एक समय मध्याह्न काल है। यदि इस समय भोजन किया जाए तो वह शीघ्र और अधिक अंश में पचता है तथा शरीर को अधिक पुष्ट करता है। परंतु आज के युग में व्यावसायिक एवं अन्य कारणों से समय पर सबको भोजन की सुविधा प्राप्त नहीं हो पाती है। जिन लोगों के लिए संभव हो, उन्हें समय पर ही भोजन करना चाहिए।

ऊपर लिखित समय के औचित्य के साथ–साथ यदि भोजन नियत काल पर किया जाए तो अधिक आरोग्यजनक है। यह अनुभव सिद्ध बात है कि विचार न करने पर भी भोजन का निश्चित समय आने पर स्वाभाविक रूप से कुछ खाने की इच्छा उत्पन्न होने लगती है। इस नियम के अनुसार काल से पहले भी भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि तब भोजन पाचन होने के पूर्ववर्णित लक्षण भी प्रकट नहीं होते। यदि नियत काल के पश्चात् भोजन किया जाए तो भी भोजन का पाचन अच्छी प्रकार नहीं हो पाता। क्योंकि नियत समय बीत जाने पर वायु प्रकुपित हो जाती है। परिणामतः अग्नि मंद हो जाती है। इस प्रकार भोजन में रूचि भी नहीं रहती और उसका परिपाक भी नहीं हो पाता। भोजन के नियत समय पर ग्रहण करने का एक और महत्व भी है। वह यह कि नियत समय पर पाचक रस निःसृत होने लगते हैं, यदि उस समय अन्नपान का सेवन न किया जाए तो पित्त प्रकुपित हो जाता है। परिणामतः ये रस शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं।

अष्ट आहार विधि विशेष आयतन

आचार्य चरक के अनुसार आठ आहार विधि आयतन होता है। (1) प्रकृति, (2)करण, (3) संयोग, (4) राशि, (5) देश, (6) काल, (7) उपयोग संस्था, (8)उपभोक्ता।

1. **प्रकृति** – आहार एवं औषध में रहने वाले स्वाभावतः लघु, गुरू, आदि गुण प्रकृति कहलाता है।

2. **करण** – स्वाभाविक गुणयुक्त द्रव्यों में जो संस्कार किया जाता है। उसे करण कहते है। दूसरे गुणों को द्रव्यों में लाने वाली क्रिया को संस्कार कहते हैं। इससे द्रव्यों में भिन्न–भिन्न गुणों का आधान (उत्पत्ति) होता है। यह गुणाधान निम्न रूप से किया जाता हैं। जैसे–

(i) **जल संयोग से** – ज्यादा तेज गुण वाले द्रव्यों का जल संयोग से गुण को कम किया जाता है। इस क्रिया के द्वारा क्वाथ, फाण्ट, हिम, कषाय, कल्फ आदि कल्पना करते हैं। जिससे उष्ण वीर्य, तेज गुण–मृदु एवं शीत वीर्य में परिवर्तन हो जाता है।

(ii) **अग्नि संयोग से** – चावल गुरू होता है पर उसी धान का लावा हल्का होता है।

(iii) **शोधन से** – विष स्वाभाव से मारक होता है पर उसे शुद्ध कर लिया जाय तो उसमें अनेक रोगों को दूर करने की शक्ति आ जाती है।

(iv) **मंथन से** – दही स्वभाव से शोथ उत्पन्न करने वाला होता है। परंतु उसे घी के साथ मथ दिया जाय, तो वह शोथ उत्पन्न नहीं करता है।

(v) **देश (स्थान)** – मासंत्व गुण, सामान्य सभी मांस में पाया जाता है। परंतु इनके भी जागल, अनुप और साधारण आदि भेद होते है।

(vi) **काल** – चावल स्वभावतः गुरू (भारी) होता है परंतु एक वर्ष पुराना चावल लघु (पचने में हल्का) होता है। कुछ कच्चा फल भारी होता है। परंतु समय के अनुसार पक कर लघु गुण हो जाता है। इसी तरह बालक, वृद्ध, युवा भेद से पशु–पक्षियों के मांस में काल अनुसार भिन्न–भिन्न गुण होता है।

(vii) **भावना** – विष जो स्वभाव से मारने वाला होता है। उसे गौ मूत्र में 03 दिन भावना देने से उसकी मारक शक्ति अल्प हो जाती है।

(viii) **काल–अपकर्ष** – आसव अरिष्ट आदि का संधान करने पर समय–अनुसार गुण होता है।

(ix) **भाजन (पात्र)** – 10 दिन तक कांसे के पात्र में रखा हुआ घी विष हो जाता है। त्रिफला के कल्क को लोहे के बर्तन पर लेप करके खाने से रसायन का गुण आ जाता है। अर्थात् हर प्रकार के द्रव्यों का संस्कार द्वारा ही अन्य गुण आता है वहीं करण हैं।

3. **संयोग** – दो या अधिक द्रव्यों के मिलने को संयोग कहा जाता है। चूंकि अलग–अलग रूप में द्रव्य में उतना कार्य शक्ति नहीं होता अतः संयोग होने पर उनका गुण एवं शक्ति बढ़ जाती है। जैसे – घी और शहद अलग–अलग

रूप में मारक नहीं होता परंतु यदि समान मात्रा में मिलाकर लिया जाय तो मारक होता है। इसी तरह निर्माण में एक से ज्यादा संख्या में एक ही गुण धर्म के द्रव्यों को मिलाकर उच्चगुण प्राप्त आहार बनती है।

4. **राशि** – किसी भी द्रव्य का संयोग में मात्रा और अमात्रा का निर्णय राशि कहलाता है यह दो होते हैं–

(i) सर्वग्रह राशि – सभी आहार द्रव्यों को एक साथ पकाना।

(ii) परिग्रह – आहार द्रव्यों का एक–एक करके मात्रा ग्रहण करना।

5. **देश** – देश स्थान को कहते है। कौन सा आहार किस देश में उत्पन्न हुआ, इसका ज्ञान करने से उसके गुणों का ज्ञान होता हैं जो आहार जिस देश में उत्पन्न होता है, वह उस देश के लोगों को सात्म्य होता है, परंतु दूसरे देश के व्यक्ति के लिए प्रतिकूल होता होगा।

6. **काल** – 1. जिस वर्ष के किसी भी ऋतु में उत्पन्न होने वाले रोग जैसे–गुल्म, अर्श आदि में उस रोग अनुसार आहार सेवन करना।
2. ऋतु जन्य उत्पन्न रोगों में ऋतु अनुसार आहार सेवन या ऋतु जन्य आहार सेवन के नियमों का पालन करना काल कहलाता है।

7. **उपयोग संस्था** – सद्वृत या स्वस्थवृत के अनुसार आहार सेवन का नियम उपयोग संस्था है।

8. **उपभोक्ता** – जो स्वयं आहार द्रव्यों का उपयोग करता है उसे उपभोक्ता कहते हैं।

ये अष्ठ आहार विध विशेष आयतन शुभ अशुभ फल को देने वाला होता है। और आपस में एक दूसरे के उपकार करने वाला होता है। मोह, लाललचवश भी अहित आहार का सेवन नहीं करना चाहिए।

भोजन आचार संहिता

भोजन ग्रहण करने के कुछ अतिरिक्त नियम है–

1. **भोजन के समय मानसिक दशा** – यह एक आध्यात्मिक क्रिया है अतः भोजन का सेवन प्रसन्न मन से करना चाहिए। क्योंकि मानसिक भावों का प्रभाव पाचन संस्थान पर पड़ता है। अतः शांत एवं प्रसन्न मनःस्थिति में पाचक रसों का स्त्राव अधिक व सम्यक मात्रा में होता है। वहीं काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, भय, लज्जा, घबराहट, चिंता, द्वेष व ग्लानि आदि भावावेशों की स्थिति में इन रसों का स्त्राव कम हो जाता है। इससे ग्रहण किये अन्नपान का परिपाक न

होकर आमरस ही उत्पन्न होता है और शरीर रोगी हो जाता है। यह भी अनुभव सिद्ध बात है कि इन भावावेशों की उपस्थिति में भोजन का स्वाद भी नहीं आता न रूचिपूर्वक खाया जाता है और न पूरी तरह चबाया जाता है। अतः शांत व प्रसन्न मनःस्थिति में ही भोजन ग्रहण करना चाहिए।

2. **भोजन व स्थान आदि की रम्यता** – यह भी सर्वविदित तथ्य है कि भोजन की अच्छी गंध व शक्ल देखने से ही मुंह से लार टपकने लगती है। स्पष्ट है कि भोजन की सुंदरता लालास्त्राव आदि पाचक रसों के स्त्रवण पर अनुकूल प्रभाव डालती है। अतः मानसिक रूप से रूचि बढ़ाने तथा घृणा, अरूचि आदि से बचने के लिए भोजन, पात्र, स्थान आदि का आकर्षक होना भी आवश्यक है। भोजन का रंग, गंध, रस तथा स्पर्श रूचिकर होने चाहिए।

   भोजन के साथ–साथ स्थान भी एकांत, पुष्पादि से सुसज्जित तथा बर्तन आदि भी साफ सुथरे व आकर्षक होने चाहिए। यह स्थान एकांत व पवित्र होना चाहिए। कोई भी ऐसी अपवित्र वस्तु व घृणित प्राणी आदि उस स्थान में न हों, जिनसे मन में घृणा व ग्लानि उत्पन्न हों। सुंदर व अनुकूल स्थान में ही मन शांत रह सकता है। अन्यथा घृणा आदि भावावेशों से भोजन के पाचन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। एकांत स्थान के लिए यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस कमरे में टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन आदि रखे गये हो वहां भोजन न किया जाए। इससे भोजन में एकाग्रता नहीं रहती। खाते समय इस प्रकार की कोई चर्चा न की जाए जिससे क्रोध, चिंता, घबराहट आदि में वृद्धि हो।

   रम्यता आदि उपरोक्त सभी तथ्यों का ध्यान रोगी के लिए विशेष रूप से रखना चाहिए। क्योंकि पथ्य भोजन का निरंतर सेवन करने से उसके प्रति अरूचि उत्पन्न हो सकती है। अतः उस द्रव्य अथवा औषधि को सुंदर व आकर्षक रूप में प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे रोगी में स्वभावतः रूचि उत्पन्न हो। खाने से पूर्व ही उसके अनुकूल वातावरण तैयार करना चाहिए। पर ध्यान रखना चाहिए कि उसका भोजन सुपाच्य व अनुकूल ही बना रहें। उसमें विविधता, सुगंध, स्वाद आदि द्वारा रूचि उत्पन्न की जा सकती है।

3. **ताजा व उष्ण भोजन** – उष्ण व ताजा भोजन स्वाष्टि तो होता ही है, इसके साथ–साथ जाठरग्नि के लिए दीपक (Stimulant) भी है। यह सुपच, वातानुलोमक तथा कफ के संघात को तोड़ने वाला होता है। भोजन के व्यंजन गिनती में भले ही कम हो, परंतु ताजे ही होने चाहिए। इससे उनमें पौष्टिकता भी बनी रहती है। बासी व ठंडा भोजन अपौष्टिक होता है।

4. **भोजन चबाकर खाना** –भोजन की पाक क्रिया मुख से ही प्रारंभ हो जाती है, जहाँ उसमें लार रस (Saliva) का संयोजन होता है। भोजन को जितना अधिक चबाया जाता है। उसमें लार का संयोजन भी उतनी अधिक मात्रा मे होता है। यदि चबाकर भोजन का अधिकांश द्रव रूप में परिवर्तित हो जाए, तो वह अनायास गले से नीचे उतर जाता है। इससे पाचन की अगली क्रिया आमाशय, पक्वाशय आदि अंगों में भली प्रकार व शीघ्र संपन्न हो जाती है। क्योंकि इस सूक्ष्म भोजन में सभी अंगों के पाचक रस अच्छी प्रकार प्रवेश कर जाते है। इसके विपरीत, जो भोजन ठीक तरह चबाया नहीं जाता, उस कठोर भोजन को आमाशय आदि कोमल अंग भी ठीक प्रकार सूक्ष्म नहीं बना पाते। इस प्रकार भोजन का पाक पूर्ण न होने से अजीर्ण, कब्ज आदि रोग उत्पन्न हो जाते है। आमाशय आदि अंगों को भी अधिक मेहनत करनी पड़ती है, जिससे वे भी कमजोर हो जाते है।

भोजन को चबाना जहां महत्वपूर्ण है, वहीं आवश्यकता से अधिक चबाना भी हानिकर है। इससे भोजन खाने में बहुत अधिक समय लगता है। और परिणामतः अधिक मात्रा में खाया जाता है। इससे पाचन–क्रिया पर भी कुप्रभाव पड़ता है। अतः बहुत शीघ्रता में चबाये बिना निगलना और अति चबाना दोनों ही स्थितियाँ हानिप्रद है।

5. **आहार की मात्रा** – आहार के सम्यक् पाचन और समाग्नि के लिए भोजन की उचित मात्रा का होना अत्यंत आवश्यक है। यह मात्रा भी दो प्रकार से देखी जाती है, एक तो संपूर्ण भोजन की मात्रा तथा दूसरे भोजन में उपस्थित प्रत्येक द्रव्य की पृथक मात्रा कौन सा द्रव्य कितनी मात्रा में लेना चाहिए ?

संपूर्ण भोजन की अधिकतम मात्रा इतनी होनी चाहिए कि जिससे आमाशय का दो तिहाई भाग तो भर जाए, परंतु एक तिहाई भाग खाली रहना चाहिए। यह तीसरा भाग वायु पित्त व कफ की विभिन्न क्रियाओं के लिए खाली रखना आवश्यक है। वायु अपनी गति आदि क्रियाएं तभी ठीक प्रकार कर सकता है यदि आमाशय का कुछ भाग खाली रहें। इस रिक्त भाग में ही पाचक रस और कफ भोजन के साथ अच्छी तरह मिश्रित होकर उनका पाचन व क्लेदन कर सकते है। यदि आमाशय पूरी तरह भरा होगा तो ये सब क्रियाएं कुछ समय तक बाधित रहेंगी और भोजन का पाचन ठीक प्रकार न हो पायेगा।

भोजन उचित मात्रा में किया गया है या नहीं। यह निम्न लक्षणों से भली प्रकार

सिद्ध हो जाता है। यदि भोजन के पश्चात् उदर में दबाव, भारीपन व पार्श्वो में तनाव प्रतीत न हों, छाती में रूकावट व भारीपन न हो, भूख और प्यास शांत हों उठने, बैठने, सोने, चलने, हंसने, श्वास लेने व छोड़ने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो, प्रातःकाल ग्रहण किया गया भोजन सायंकाल तथा सायंकाल में किया भोजन प्रातःकाल तक एक अच्छी तरह पाचन हो जाएं तथा दोष, धातु और मल विकृत न हो तो समझना चाहिए कि भोजन की मात्रा सम है, अन्यथा विषम।

आहार में द्रव्यों के पृथक–पृथक् प्रमाण के मुख्य आधार उपभोक्ता की प्रकृति, आयु, पाचकाग्नि आदि तत्व है। ये सभी तत्व भी एक ही व्यक्ति में ऋतु दिन के समय विभाग एवं आयु के अनुसार भिन्न–भिन्न होते है। जिस देश काल आदि में उसकी अग्नि व बल जिस प्रकार के हो, उसके अनुसार ही इन पदार्थो का सेवन करना चाहिए। पित्त प्रकृति पुरूष में अग्नि तीक्ष्ण, कफप्रधान में मंद तथा वात प्रधान में विषम होती है। उनकी उचित मात्रा का निर्णय भी उपरोक्त लक्षणों के आधार पर किया जा सकता है।

अग्नि, बल आदि के अनुसार मात्रा का निर्णय करते समय इन द्रव्यों के गुरूत्व (देर से पाचन होना) तथा लघुत्व (जल्दी पाचन होना) का भी ध्यान रखना होता है क्योंकि मूंग आदि कुछ द्रव्य स्वाभाव से ही लघु होते हैं, जबकि उड़द आदि कुछ द्रव्य स्वभाव से ही गुरू। कुछ द्रव्य संस्कार (पकाने की विधि) के कारण लघु (हल्के) व गुरू (भारी) हो जाते हैं। यदि लघु पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन कर लिया जाए, तो वे भी गुरू पदार्थो के समान देर से पाचन होते है। जबकि यदि गुरू पदार्थो को अल्प मात्रा में ग्रहण किया जाए तो वे भी लघु द्रव्यों के समान शीघ्र हजम हो जाते हैं। अतः लघु पदार्थों का सेवन थोड़ी भूख शेष रखकर, अत्यंत लघु पदार्थों का सेवन पूरा पेट भरकर तथा गुरू पदार्थो का सेवन एक–तिहाई भूख शेष रखकर ही करना चाहिए। गुरू पदार्थो को भी अंजवायन आदि कुछ औषध द्रव्यों के मिश्रण से सुपाच्य बनाया जा सकता है। वैसे तो सामान्य रूप में भी भोजन का सेवन भूख लगने पर ही करना चाहिए, परंतु गुरू (भारी) द्रव्यों का सेवन करते समय तो इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए। यदि गुरू द्रव्यों का सेवन उचित समय व उचित मात्रा में न किया जाए तो इससे आम का प्रकोप बढ़ जाता है तथा यकृत, वृक्क आदि अवयवों को भी आवश्यकता से अधिक मात्रा में कार्य करना पड़ता है।

6. **भोजन का सात्म्य** – इन उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त सात्म्य अथवा अनुकूलता का ध्यान रखना भी आहार–पाचन के लिए आवश्यक है। किसी भी पदार्थ के सात्म्य अथवा असात्म्य का ज्ञान व्यक्ति को अपने अनुभव अथवा अभ्यास से हो सकता है। अतः उसे तदनुसार ही पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार संक्षेप में, पाचकाग्नि, भोजन का काल आदि प्रमुख सहायक तत्वों के अतिरिक्त द्रव्यों की प्रकृति (लघुत्व–गुरूव आदि गुण), कारण या संस्कार (अर्थात् पाचन पकाने की विधि), संयोग अर्थात् अन्य पदार्थों के संयोग से गुणों में परिवर्तन, राशि अर्थात् आहार की मात्रा, देश अर्थात् भक्ष्य पदार्थ का स्थान, काल अर्थात् ऋतु, आयु, भोजन का पाक आदि के अनुसार आहार का समय, उपयोग संस्था अर्थात् भोजन की उष्णता, चबाना आदि सेवन के विभिन्न नियम तथा उपभोक्ता अर्थात् उपभोक्ता की अग्नि, प्रकृति आदि के अनुसार हित पदार्थो का सेवन व अहित पदार्थो का वर्जन– ये प्रमुख तत्व आहार पाक में सहायक है। भली–भांति विचार करके तदनुसार आहार–ग्रहण करके शरीर में ऊर्जा की प्राप्ति जैसे वांछनीय उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती हैं तथा रोगों के आक्रमण से बचा जा सकता है।

आहार, पाचन, पोषण का महत्व

आहार का महत्व – शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिए व जीवित रखने के लिए भोजन अति आवश्यक है। आहार ग्रहण करना मनुष्यों एवं सभी जीवों की दैनिक आवश्यकता हैं। अनेक धर्म, जाति एवं जलवायु के अनुसार आहार भी अलग–अलग होता है। आहार से तात्पर्य उन पदार्थो से है जो शरीर का पोषण करें, आहार पोषक तत्व पोषण प्रदान करने वाले जटिल तत्वों का समिश्रण है। इन सम्मिलित पदार्थों को पौष्टिक तत्व कहा जाता है। जो भोजन की विभिन्न क्रियाओं में शामिल होती है।

आचार्य चरक एवं सुश्रुत के अनुसार आहार को विभिन्न वर्गों में बांटा गया है तथा आहार व्यवस्था के विविध आयतन नियुक्त किये है। वह पदार्थ जो खाये जाने पर शरीर के अन्न मार्ग से पाचन संस्थानों में पहुंचकर पाचन होकर जीवन शक्ति उत्पन्न करें, धातुओं का पोषण करें, उनकी रक्षा तथा क्षतिपूर्ति कर जीवन

की प्रक्रिया को संयमित करें तथा शरीर के महत्वपूर्ण अंशसांशु की उत्पत्ति में सहायक हो उसे आहार कहते है। चरक संहिता में मानसिक एवं शारीरिक रोग को आहार संभव माना है। आहार ही शरीर के समुचित विकास सुख एवं दुख का हेतु है। आहार द्वारा शरीर पोषण होना शारीरिक अग्नि पर निर्भर होता है। आहार का पाचन, पोषण, चयापचय संबंधित संपूर्ण क्रिया अग्नि व्यापार के अंतर्गत आती है। शरीर के लिए हितकारी पदार्थ को पथ्य एवं हानिकारक पदार्थो को अपथ्य कहते है। आयुर्वेद में पथ्यापथ्य की मौलिक अवधारणा अति व्यापक है। आयुर्वेद में आहार की ही योजना या व्यवस्था की जाती है। अन्न को प्राणियों का प्राण कहा गया है एवं आहार से बल, वर्ण, ओज की प्राप्ति होती है। इस तरह आहार स्वस्थ तथा रोगी दोनों के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण है। बिना समुचित आहार के स्वस्थ व्यक्ति नहीं रह सकता है और बिना उचित पथ्यापथ्य व्यवस्था के रोगी में चिकित्सा कर्म सफल नहीं हो सकता है।

पाचन का महत्व –पाचन तंत्र के द्वारा आहार का सम्यक् पाचन होने पर ही शरीरगत् धातुओं तथा अवयवों का पोषण कर्म होता है। विविध प्रकार के आहार को शरीरगत् पाचन संस्थान के द्वारा शरीर में शोषण के लायक बनाना पाचन क्रिया कहलाती है। आहार में उपस्थित विभिन्न जटिल घटकों का पाचन के द्वारा सरल घटकों में परिवर्तन होता है और वह शरीर में अवशोषण के लायक बना जाता है एवं आंतों के द्वारा अवशोषित होकर शरीर के अवयव एवं धातुओं का पोषण समुचित रूप से होता है। भोजन में कई तत्व ऐसे होते है जो पाचक रसों की क्रिया होने के उपरांत ही शरीर में शोषण के लायक बनता है। आहार में स्थित विभिन्न प्रकार के खनिज तथा अन्य पौष्टिक तत्व एक संतुलित मात्रा में शरीर की रक्षा एवं पोषण करता है। कभी–कभी आहार में स्थित विभिन्न प्रकार के रोगाणु पाचन के दौरान पाचक रसों से नष्ट हो जाते हैं और शरीर में रोग उत्पन्न नहीं कर पाते हैं। शरीर के आंतरिक क्रियाओं को नियंत्रित करने वाले अंतर श्रावी ग्रंथियां भी पाचन क्रिया के दौरान क्रियाशील होती है। फलस्वरूप भोजन के पाचन के साथ अन्य शारीरिक क्रियाएं भी प्राकृतिक रूप से निर्विघ्न चलती रहती है। अतः यह सिद्ध होता है कि सम्यक रूप से सात्म्य पाचन होना है। अर्थात् स्वस्थ शरीर के प्राप्ति के लिए भोजन का सही पाचन होना अत्यंत आवश्यक है अन्यथा प्राणी पाचन संबंधी अनेक रोगों से आक्रांत होकर जीवन का आनंद नहीं उठा पाता है।

पोषण का महत्व – पोषण उन प्रक्रियाओं का स्वरूप है जिनके द्वारा कोई भी जीवित प्राणी भोज्य पदार्थों को प्राप्त कर पोषक तत्वों का उपयोग शारीरिक क्रियाओं को संपन्न करने व शरीर की वृद्धि तथा सेल्स, टिशुओं (शारीरिक अपयव को बनाने वाले तत्व) का पुन' निर्माण करने के लिए करते हैं।

भोजन का शरीर में प्रवेश के पश्चात् उसमें उपस्थित विटामिन्स, वसा, प्रोटीन, खनिज तत्व, कैल्शियम, सोडियम आदि पाचन क्रिया के द्वारा इस रूप में परिवर्तित होता है। जो शरीर में अवशोषित हो शरीर का पोषण धारण करता है। पोषण आहार विज्ञान का ही महत्वपूर्ण अंग है। पोषण का संबंध स्वस्थ एवं आतुर दोनों शरीर से होता है। प्राणी के श्वास लेने से, उनका पाचन क्रिया, संवहन, उत्सर्जन आदि तक पोषण का महत्व होता है। साथ ही भोजन करने से सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, शारीरिक व मानसिक स्वभाव से संबंधित होता है। पोषण का अभिप्रायः वह शक्तिमान प्रक्रिया से हैं जिसमें खाये गये भोजन का उपयोग, शरीर की वृद्धि, शक्ति की उत्पत्ति के लिये होता है। जिस तरह पोषण से परिपूर्ण होना आवश्यक है जिससे स्वास्थ्य उत्तम बना रहे। शरीर के पोषण का स्तर भोजन द्वारा प्राप्त पोषक तत्वों पर निर्भर रहता है। उसी के आधार पर पोषण को तीन विभागों में रखा जा सकता है।

1) **उत्तम पोषण** – इसके अंतर्गत स्वस्थ शरीर आता है जिसकी शारीरिक एवं मानसिक कार्य क्षमता एवं क्रियाशीलता संतुलित रहती है। भोजन में सभी पोषक तत्वों की सही मात्रा व अनुपात सही हो, उचित पाचन, अवशोषण हो उसे उत्तम पोषण कहते है।

2) **अपर्याप्त पोषण** – इसे कुपोषण कहा जाता है। इनमें भोजन की मात्रा या पोषक तत्वों की मात्रा का कम होना, जिसके परिणाम स्वरूप शरीर विभिन्न कुपोषण जन्य रोगों से आक्रांत हो जाता है या विटामिन्स, प्रोटीन की कमी से उत्पन्न होने वाले रोग उत्पन्न हो जाते हैं इसे अपर्याप्त पोषण कहते हैं।

3) **अतिपोषण** – यह भी एक प्रकार का कुपोषण ही होता है। अधिक मात्रा में बार–बार अधिक पोषक तत्वों वाले आहार द्रव्यों के सेवन से अति पोषण जन्य रोग उत्पन्न होता है जैसे– स्थुलता, अतिवसा जमा होना इत्यादि। अति पोषक तत्वों की उपस्थिति में पाचन क्रिया सही नहीं होती या फिर उन तत्वों का अवशोषण पर्याप्त रूप से नहीं हो पाता है इसे अतिपोषण कहते हैं।

अतः हम देखते है कि जीवन को स्वस्थ बनाये रखने के लिए शरीर के सम्यक वृद्धि शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बनाये रखने के लिए पोषण क्रिया अत्यंत महत्वपूर्ण है।

आहार द्रव्यों का वर्गीकरण

सामान्य आयुर्वेद में आहार द्रव्यों को अशित (थोड़ा चबाने योग्य), पीत (पीने योग्य), लीढ़ (चाटने योग्य) तथा चव्य या खादित (बहुत अधिक चबाने योग्य)– इन चार प्रकार का माना गया है। परंतु यहां खाद्य और पेय, इन दो प्रकारों को मुख्य मानकर सभी आहार–द्रव्यों को निम्नलिखित 12 वर्गों मे बांटा गया है–

1. शूक धान्य वर्ग अर्थात् बाली वाले अनाज
2. शमी धान्य वर्ग अर्थात् दाल वाले अनाज
3. मांस वर्ग
4. शाक वर्ग अर्थात् सब्जियां
5. फलवर्ग
6. हरित वर्ग अर्थात् बिना पकाये खाई जाने वाली सब्लियां (सलाद)
7. मद्य वर्ग अर्थात् मादक द्रव
8. जल वर्ग
9. दुग्ध वर्ग एवं दूध से बने घी, मक्खन आदि पदार्थ
10. इक्षुविकार अर्थात् गन्ने से तैयार किये गये पदार्थ, जैसे–चीनी, गुड़ आदि
11. कृतान्न अर्थात् पकाया हुआ भोजन
12. आहारयोगी वर्ग अर्थात् भोजन पकाने में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य, जैसे–विभिन्न प्रकार के तेल, नमक, मसाले आदि।

1. **शूक धान्य** – इसके अंतर्गत शालि, पौष्टिक, ब्रीहि (तीन प्रकार के चावल), श्यामाक, गोधूम (गेहूं) और यव (जौ) आते है।
2. **शमी धान्य** – इसके अंतर्गत मुख्यतः मांस (उड़द), राजमांस कुलत्थ, मकुष्ठ (मोठ), चना, तिल, शिम्बी, मटर एवं अन्य दालें आती हैं।
3. **मांसवर्ग** – जिन पशुओं का मांस खाने के काम आता हैं, उन्हें गुणों के आधार पर निम्नलिखित आठ वर्गों में बांटा गया है –

(i) प्रसहवर्ग (झपटकर भोजन ग्रहण करने वाले प्राणी) गाय, खर, अश्वतर, ऊंट, अश्व, हाथी, सिंह, रीछ, वानर, भेड़िया, व्याघ्र, मार्जार, मूषक, लोपाक, जंबूक, श्वेन, कुत्ता, चाष, कौआ, चील, मधुहा, भास, गिद्ध, उल्लू, कुलिंगक, धूमिक व कुरर का मांस इस वर्ग में आता हैं।

(ii) भूमिशय (वे पशु जो भूमि में बिल या मांद बनाकर रहते हैं।) श्वेत काकुलीमृग, श्याम, काकुलीमृग, चित्रपृष्ठ (चितकबरा), काकुलीमृग कालक, काकुलीमृग,

क्रूर्विका, चिल्लट, भेक(मेंढक), गोधा, शल्लक, मण्डक, कदलि, नकुल एवं श्वाविद् इस वर्ग के प्राणी है।

(iii) आनूप (दलदल भूमि में रहने वाले जानवर) समर वानर खड्ग (गेंडा), भैंस, नीलगाय, हाथी, बराह और रूरूमृग इस श्रेणी के जानवर है।

(iv) वारिशय (जल में रहने वाले जानवर) कूर्म (कछुआ), कर्कटक (केकडा), मछली, शिशुमार, तिमिगिल (ह्वेल), शुक्ति, शंख, उद्र (बंजपी), कुम्भीर, चुलुकी व मकर इस वर्ग के जानवर हैं।

(v) वारिचर (जल में घुमने वाले पक्षी) हंस, क्रौंच, बलाका, बक, कारण्डय, प्लय, शरारि, पुष्कराह्व, केशरि, मणितुण्डक, मृणालकण्ठ, मदगु, कदम्ब, काकतमुण्ड, उत्क्रोश, पुण्डरीकाक्ष, मेघराव, अम्बुकुक्कुटि, आर, नंदीमुखी, वाती, सुमुख, सहचारी, रोहिणी, कामकाली, सारस, रक्तशीर्षक और चक्रवाक इस वर्ग में आते हैं।

(vi) जांगल (जंगल में रहने वाले पशु) पृषक, शरम, राम, श्वचंष्ट्र, मृगमातृका, शश, उरण, कुरंग, गोकर्ण, कोट्टकाकर, चारूष्क, हरिण, एण, शाम्बर, कालपुच्छक, ऋष्य और वरपोत इस श्रेणी के जानवरी है।

(vii)विष्किर ये दो समूहों में बांटे गये है –

(क) लाव, वर्तिरक, कर्पिजल, वार्तिक, चकोर, उपचक्र, कुकुभ तथा रक्तवर्त्म इस समूह के पक्षी है।

(ख) वर्तक, वर्तिक, बर्हिन, तित्तिर, कुक्कुट, कंक, सारपद, इन्द्राभ, गोनर्द, गिरिवर्तक, क्रकट, अवकर तथा वारद इस दूसरे समूह के अंतर्गत आते है।

(viii) प्रतुद (चोच मारने वाले पक्षी) शतपत्र, भृंगराज, कोयष्टि, जीव जीवक, कैरात, कोकिल, अत्युह (बुलबुल), गोपापुत्र, प्रियात्म, लट्टा, लट्टषकि, बभ्रु, वटहा, दिण्डिमानक, जटी, दुन्दुभि, पाक्कार, लोहपृष्ष, कुलिंगक, चातक, अंगारचूडक, पारावत एवं, पाण्डवीक प्रतुद वर्ग के पक्षी है।

4. **शाकवर्ग (सब्जियां)** – सब्जियों में मुख्य रूप से निम्नलिखित का उल्लेख मिलता है– पाठा, पचुर, बथुवा, तीन पत्तियां मकोय, पोई, मूंग, मटर, चौराई, उड़द, राहर, लौकी, तरोई, करेला, कचनार, सेम, आलू, सरसों पत्ती, कुसुम पत्ती, कोहड़ा, मुनगा, खीरा, ककड़ी।

5. **फलवर्ग** – आयुर्वेद में प्रमुखतः निम्नलिखित फलों के गुणों का वर्णन मिलता है। खर्जुर, अंजीर, फालसा, आम, बिही, जामुन, सेब, संतरा, पपीता, मौसमी, कैथ, बेल, अंगूर, मुनक्का, छुहारा, बहेरा, आंवला, हर्रा, करौदा, केला, नासपत्ती, अनानास, तेंदू, इमली, बादाम, काजू, सीताफल, नींबू, पीपल, पाकड़ बड़।

6. **हरितवर्ग (बिना पकाये प्रयुक्त होने वाले द्रव्य)** – तुलसी, अंजवायन, राई, सरसों धनिया, जीरा, मूली, गाजर, प्याज, लहसून।
7. **मद्यवर्ग** – सुरा, मंदिरा, अरिष्ट, शर्करा, पक्वरस, शीतरसिका, गुड़, से बना मदिरा जौ की मंड, सौबीरक और तुषोदक आयुर्वेद में वर्णित प्रमुख मादक द्रव्य है।
8. **जलवर्ग** – आयुर्वेद में भिन्न–भिन्न प्रकार के जलों के गुणों का वर्णन किया गया है। इनमें विभिन्न ऋतुओं से संग्रह किया गया वर्षा जल, भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बहने वाली नदियों का जल तथा तालाब, झील, कुएं, निर्झर, प्रपात, छोटे झरने, बावली व समुद्र का जल प्रमुख है।
9. **गोरस वर्ग (दूध व दूध से बने पदार्थ)** –गाय, भैंस, ऊंट, भेड़, गधी, बकरी, हथिनी एवं स्त्री के दूध के गुणों का आयुर्वेद में विस्तृत रूप से वर्णन मिलता है। दही, मलाई, मक्खन, घी तक आदि पदार्थों के गुण दोषों का उल्लेख भी मिलता है।
10. **इक्षुवर्ग (गन्ने से बने पदार्थ)** –आयुर्वेद में विभिन्न प्रकार के गन्ने का रस, इस रस से तैयार चीनी, गुड़ आदि पदार्थों के गुण दोषों का भी वर्णन मिलता है। इसी वर्ग के अंतर्गत शहद के भिन्न–भिन्न प्रकारों का उल्लेख भी किया गया हैं।
11. **कृतान्न वर्ग** – इस वर्ग के अंतर्गत पकाकर तैयार किये गये पदार्थ आते है। आयुर्वेद में चावल, गेहूं, जौ, फलों का रस, सूप, सब्जियां, दालों, और दूध से तैयार किये गये पदार्थों के गुणों का वर्णन मिलता है।

12. **आहारयोगी वर्ग** – इस वर्ग में भोजन तैयार करने में प्रयुक्त होने वाले पदार्थों के गुण दोषों का वर्णन किया गया है। एरण्ड का तेल, सरसों का तेल, तिल का तेल, प्रियाल का तेल, कुसुम्भ का तेल, मसाले, लवण छोंक लगाने वाले द्रव्य तथा क्षार इस वर्ग के प्रमुख द्रव्य है।

हितकर आहार – हितकारी आहार हर व्यक्ति के लिए सात्म्य होता हित आहार के सेवन करने वाले व्यक्ति को किसी प्रकार का रोग नहीं होता परंतु कभी कभी निम्न परिस्थितियों मे रोग उत्पन्न हो जाता है।

1. ऋतु के विपरीत
2. प्रज्ञापराध
3. इन्द्रियों के साथ शब्द, के साथ स्पर्श, रूप रस और गंध का असात्म्य होता।

ये उपर्युक्त कारण हितकर आहार का प्रयोग करने पर भी रोग को उत्पन्न करता है।

अहितकर आहार – अहितकर आहार का सेवन करने वाले पुरूषों में कारण के अनुसार सेवन किया गया अहितकर आहार का प्रयोग शीघ्र ही दोष या रोगकारि नहीं होता है। क्योंकि सभी अपथ्य आहार दोषों को बढ़ाने वाले नहीं होते तथा सभी शरीर में भी समान रूप से व्याधिप्रतिरोधक क्षमता नहीं होती है।

1. देश, 2. काल, 3. संयोग, 4. वीर्य, 5. प्रमाण, 6. अतियोग, से अधिकतर हितकर आहार अहितकर हो जाता है। इसी तरह विभिन्न कारणों से दूषित हितकर आहार भी अहितकर हो जाता है। विरूध आहार गंभीर धातु में प्रविष्ठ होकर, जीर्ण हो जाने पर प्राणायतन में प्रविष्ठ तथा मर्म स्थान के नष्ट होने पर, शरीर के अतिस्थूल, अतिक्रिश होने पर अल्पाहार और अल्पसत्व वाले व्यक्ति में रोग उत्पन्न करता है। इसके विपरीत शक्ति वाला व्यक्ति व्याधियों को सहन करने में समर्थ होता है। इन्हीं अहितकर आहार दोष और शरीर की भिन्नता के कारण रोग भी मृदु, दारूण एवं शीघ्र उत्पन्न होने वाले और देर से उत्पन्न होने वाले होते है।

4. सारांश

इसके अंतर्गत आप आहार, विषयक अन्य विशिष्टता का अध्ययन किये जिसमें आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार आहार को संस्कारित करना।

- आहार एवं पोषण का महत्व, पोषण से हमारे भोजन में प्राप्त होने वाले ऊर्जा, शक्ति का महत्व।
- आहार आचार संहिता के अनुसार भोजन ग्रहण करने के नियम।
- भोजन के रूप लिये जाने वाले धान, दाल, मांस, दूध, घी आदि का परिचय का अध्ययन किये।
- हितकर, अहितकर, आहार परिचय का अध्ययन किये।

5. अभ्यास प्रश्न

1. अष्ट आहार विध विशेष आयतन से आप क्या समझते हैं संपूर्ण विषयों को स्पष्ट करें।
2. आहार आचार संहिता का वर्णन करें।
3. आहार, पाचन एवं पोषण का महत्व लिखें।
4. अन्न द्रव्यों का वर्गीकरण लिख कर स्पष्ट परिचय लिखें।

आयुर्वेद – प्रबोध
तृतीय प्रश्न पत्र
इकाई – 5 (पोषण विज्ञान)

इकाई की रूपरेखा –

1. उद्देश्य।
2. प्रस्तावना।
3. विषय वस्तु।
    - आहार घटक परिचय।
    - कुपोषण से होने वाली हानियां।
    - पोषण का महत्व।
    - विरोधी आहार परिचय।
    - पथ्या पथ्य विवेचन।
4. सारांश।
5. अभ्याय प्रश्न।

1. **उद्देश्य** – इस इकाई में आप चावल, गेहूं आदि आहार द्रव्यों में उपस्थित पोषक तत्वों के नाम, उनका परिचय एवं उनकी कमी से होने वाले रोगों के विषय में अध्ययन करेंगे। जिससे आप –

- आहार में रहने वाले पोषक तत्वों के विषय में जान सकेंगे।
- पोषक तत्वों की प्राप्ति स्त्रोत, उसकी कमी से शरीर में होने वाले रोगों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- विरोधी आहार के अंतर्गत उन द्रव्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे जो शरीर के लिए अहित कर होता है। दो या अधिक द्रव्य आपस में मिल कर शरीर में विषैला प्रभाव डालते हैं और विभिन्न गंभीर रोगों को उत्पन्न करते हैं। इसके विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- पथ्य एवं अपथ्य आहार के अंतर्गत स्वस्थ एवं रोगी शरीर में आहार के महत्व का अध्ययन कर यह जाने कि इन्हीं आहारों के द्वारा शरीर में दोषों की वृद्धि या क्षय हो कर रोग उत्पत्ति होती है। जिससे पथ्य के द्वारा उसे कैसे संतुलित करें।

2. **प्रस्तावना** – तृतीय प्रश्न पत्र का यह अंतिम व पांचवी इकाई है। इस इकाई में आप आहार घटक अर्थात् पोषक तत्व जैसे –विटामिन्स, प्रोटीन, वसा, कार्बोहाईड्रेट, खनिज तत्व आदि के विषय में अध्ययन करेंगे। ये पोषक तत्व हमें भोजन से ही प्राप्त होते है। चांवल, दालें, सब्जी, फल, दूध, घी आदि पदार्थ उपर्युक्त पोषक तत्वों को प्राप्त करने का साधन है। हमारे द्वारा इन तत्वों से रहित भोजन या कम भोजन करने से इन विटामिन्स आदि पोषक तत्वों की कमी होती है या अधिक पोषक तत्वों को खाने से विटामिन की अधिकता होती है। इसी तरह कार्बोहाइड्रेड, प्रोटीन, कैल्शियम, सोडियम, पोटेशियम, आयोडीन, वसा आदि की अधिकता जन्य रोग का शिकार होते है। अतः संतुलित आहार का अर्थ ही होता है। पोषक तत्वों से पूर्ण आहार और हमारा शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता, बल आदि की पर्याप्त मात्रा हो। जिससे हम स्वस्थ रहे।

इस तरह ऐसे आहार जो शरीर को नुकसान पहुंचाता हो या उचित आहार द्रव्य भी काल (मौसम) मात्रा, सात्म्य, पाचन क्रिया, दोषों के विरूद्ध संस्कार वीर्य से आहार क्रम दृष्टि से हानिकारक प्रभाव डालता हो ऐसे विरूद्ध आहार का अध्ययन करेंगे। ये आहार विभिन्न विशिष्ट परिस्थितियों में विषैला प्रभाव डालकर मृत्यु जैसी गंभीर रोगों को उत्पन्न करता है।

इस तरह दोष धातु मलों को क्षय वृद्धि एवं प्रकोप करने वाले अपथ्य आहार एवं शमन करने वाले पथ्य आहार के महत्व के विषय में अध्ययन करेंगे। आयुर्वेद में पथ्य आहार से स्वास्थ्य रक्षण के लिए ऋतु चर्या, दिन चर्या, रात्रि चर्या का विस्तृत वर्णन मिलता है। अतः जीवन चर्या का प्रमुख आधार आहार है। आहार द्रव्यों का पथ्य होना ही संपूर्ण स्वास्थ्य का राज होता है।

विषय वस्तु
पोषक एवं आहार पोषक तत्व परिचय

स्वस्थ रहने बेहतर स्वास्थ्य और मनुष्यों में रोगों का रोकने में पोषक तत्वों की भूमिका महत्वपूर्ण है। कुपोषण और न्यून पोषण आज की सबसे प्रमुख अंतराष्ट्रीय स्वास्थ्य समस्या हैं। अतः सभी सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्त्ताओं को पोषण का सम्यक ज्ञान आवश्यक है।

पोषक शब्द आधुनिक प्रचलन में उस सक्रिय प्रक्रिया का घोतक है। जिनमें खाये गये भोजन का उपयोग शरीर के पोषण के लिये होता है। शब्द पोषक या आहार घटक विशिष्ट रासायनिक यौगिकों जैसे विटामिन, खनिज एवं अमीनो एसिड से युक्त होता है। आहार विज्ञान (dietetics) में पोषण के सिद्धांतों का व्यवहारिक प्रयोग इसमें स्वस्थ्य व्यक्ति और रोगियों के लिये भोजन का नियोजन सम्मिलित है।

बदलता हुआ विचार –

शताब्दियों से स्वस्थ और अस्वस्थ मनुष्य के लिए भोजन महत्वपूर्ण माना गया है। 19 वीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा को ऊर्जा प्रदायक भोजन माना जाता था साथ ही उनका उपापचयी महत्व एवं ऊर्जा की आवश्यकता में उनके योगदान भी ज्ञात किया जा चुका था। विटामिनों की बीसवीं सदी की खोज ने पोषण विज्ञान की पुनर्खोज की। दो विश्व युद्धों की अवधि के मध्य में प्रोटीन संबंधी आविष्कार को बल मिला। 1950 ई.वी. तक सभी विटामिन और अमीनो एसिड्स खोजे जा चुके थे। पोषण विज्ञान के एक विधा के रूप में मान्य हो चला था। इसकी जड़ें शरीर संरचना विज्ञान (Physiology) एवं जैव रसायन (Bio-chemistry) में थे वस्तुतः पोषण को शरीर संरचना विज्ञान की एक शाखा के रूप में ही माना जाता है।

पोषण के क्षेत्र में एवं उसके प्रोयोगिक क्षेत्र में पिछले पचास वर्षों में भारी उन्नति हुई है। पोषण से संबंधित विशिष्ट बीमारियों को पहचाना गया है। तथा उसको नियंत्रित करने के लिये तकनीकी विकास भी हुये है। उदाहरण के लिए – प्रोटीन ऊर्जा से संबंधित कुपोषण, स्थानीय घेंघा या गलगंड, पोषण संबंधित रक्तअल्पता पोषण संबंधित रोग है।

पोषण का स्वास्थ्य से संबंध –

उत्तम पोषण स्वास्थ्य का मौलिक घटक है। पोषण की स्वास्थ्य से संबंध ा निम्नलिखित दृष्टिकोण से स्पष्ट हैं –

1. **वृद्धि और विकास** – सामान्य वृद्धि और विकास के लिए अच्छा पोषण आवश्यक है। केवल शारीरिक वृद्धि और विकास ही नहीं, वरन् बौद्धिक विकास, विद्यार्जन और व्यवहार भी कुपोषण से प्रभावित होते हैं। गर्भावस्था में कुपोषण से गर्भ पर प्रभाव पड़ सकता है। जिससे मृत प्रसव, कालपूर्व प्रसव और समय के अनुपात में छोटे आकार के बच्चे होते है। बचपन में कुपोषण से शारीरिक और मानसिक वृद्धि में विलंब होता है। ऐसे बच्चे विकास के हर कदम पर धीमे और पीछे रहते है। प्रौढ़ आयु में भी उत्तम स्वास्थ्य और कार्यकुशलता बनाये रखने के लिए अच्छा पोषण आवश्यक है। संक्षेप में जन्म से मृत्यु तक पोषण मानव स्वास्थ्य को प्रभावित करता है।

2. **विशिष्ट प्रकार की कमी (specific deficiency)** – पोषण की कमी से होने वाले कुछ विशिष्ट रोगों के लिए कुपोषण प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार हैं। भारत में होने वाले ऐसे सामान्य रोग है। क्वषियोरकोर (Kwashiorkor), सूखा रोग (marasmus), विटामिन ए की कमी से होने वाला अन्धत्व, अरक्तता, बेरीबेरी, गलगंड आदि। इसलिए ऐसे रोगों की रोकथाम और स्वास्थ्य वृद्धि के लिए अच्छा पोषण आवश्यक है।

3. **संक्रमण का प्रतिरोध** – कुपोषण, क्षय जैसे संक्रमणों का सहायक होता है। यह अनेक रोग– विषयक विकारों का प्रारंभ और विकास को प्रभावित करता है। संक्रामक रोग अपनी प्रभाव से भोजन की मात्रा, उसका अवशोषण और पाचन को प्रभावित कर कुपोषण को बढ़ा देता है।

4. **मृत्युदर और अस्वस्थता दर** – कुपोषण का प्रत्यक्ष प्रभाव समाज के लिए और अधिक चिंता का विषय है। ऊंची मृत्युदर, ऊंची शिशु मृत्यु दर, ऊंची अस्वस्थता दर और नीची प्रत्याशित आयुदर आदि। अतिपोषण जो एक प्रकार का कुपोषण है। मोटापा, मधुमेह, अतिरक्तदाब, हृदयरोग और वृक्क और यकृत, पित्ताशय के विकारों के लिए जिम्मेदार है। विशेष प्रकार के जठरांत्र

कैन्सर में भोजन की भूमिका महत्वपूर्ण हैं। अब यह अच्छी तरह से मान लिया गया है कि भोजन और कुछ रोग परस्पर संबंधित है।

पोषण का महत्व – इसका वर्णन इकाई चार में किया गया है।

भोजन के कार्य (Functions of food)–

भोजन के मुख्य कार्य हैं –

1. ऊर्जा उपलब्ध कराना ।
2. शरीर का गठन और सुधार ।
3. ऊत्तकों की क्रियाशीलता और नियंत्रण ।

उपरोक्त कार्यों के आधार पर भोजन का वर्गीकरण निम्नानुसार हैं –

1. **ऊर्जा देने वाले आहार** – इन आहारों में कार्बोहाइड्रेट और वसा अधिक होते हैं जैसे चावल, गेहूं आलू, शक्कर, वसा और तेल।
2. **शरीर का गठन करने वाले आहार** – इनमें प्रोटीन खूब होता है। जैसे– दूध, अंडे, मांस, यकृत, मछली, दाल, खली।
3. **सुरक्षात्मक आहार** – इनमें विटामिन, खजिन और प्रोटीन खूब होते हैं, जैसे– दूध, हरे पत्ते वाली सब्जियां। संक्रामक रोग और अस्वस्थता से सुरक्षा प्रदान करने के कारण इन्हें सुरक्षात्मक आहार कहते हैं। उल्लेखनीय है कि भारतीय भोजन में सामान्यतः आहार की कमी रहती है।

संतुलित आहार में उपरोक्त तीनों वर्गों के भोजन का समावेश होना चाहिए।

भोजन के घटक (Constituints of food) –

भोजन के आहार घटक आकृति 1 में दर्शाये गये हैं।

प्रोटीन

वसा कार्बोहाइड्रेट

विटामिन खनिज

जल

आकृति 1 भोजन के आहार घटक

प्रोटीन, वसा और कार्बोहाइड्रेट को ''प्रत्यक्ष मूलतत्व'' (Proximate Principles) या ऊर्जादायी आहार कहा जाता है। पानी के साथ अधिकांश भोजन इन्हीं तत्वों से बनता है। मनुष्य के शरीर का संघटन लगभग निम्नानुसार हैं।

सारणी 1

मानव शरीर का संघटन

घटक	प्रतिशत
पानी	63
प्रोटीन	17
वसा	12
खनिज	7
कार्बोहाइड्रेट	1

भोजन का वर्गीकरण –

भोजनों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है –

1. **उत्पत्ति के आधार पर वर्गीकरण** –
    1. पशु जन्य भोजन
    2. वनस्पति जन्य भोजन
2. **रासायनिक संयोजन के आधार पर वर्गीकरण** –
    1. प्रोटीन
    2. वसा
    3. कार्बोहाइड्रेट
    4. विटामिन
    5. मिनरल्स

3. <u>प्रमुख कार्यों के आधार पर वर्गीकरण</u> –

1. शरीर निर्माणकारी भोजन यथा : दूध, मांस, मुर्गी, अंडे, दालें, मूंगफली आदि।
2. ऊर्जा प्रदायक भोजन यथा : अन्न, शर्करा, कंदमूल, तेल एवं घी आदि।
3. संरक्षणकर्त्ता भोजन यथा : वनस्पतियां, फल, दूध आदि।

4. <u>पोषण के महत्व के आधार पर वर्गीकरण</u> –

1. अन्न व मोटे अन्न
2. दालें
3. वनस्पतियां
4. तिलहन और गिरी
5. फल
6. पशु जन्य भोजन
7. वसा एवं तेल
8. शर्करा एवं गुड़
9. मिर्च मसालें
10. अन्य खाद्य पदार्थ

<u>प्रोटीन (Proteins)</u> –

शब्द ''प्रोटीन'' का अर्थ हैं – प्रथम महत्व का । वस्तुतः मनुष्य के पोषण में इनका सर्वाधिक महत्व है। प्रोटीन की संरचना में कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और गंधक विभिन्न अनुपात में है। कुछ प्रोटीन में फास्फोरस और लोहा तथा कभी–कभी अन्य तत्व भी होते हैं। प्रोटीन में नाइट्रोजन का होना उन्हें कार्बोहाइड्रेट और वसा से भिन्न करता है। प्रोटीन की रचना अमीनो एसिड नामक साधारण पदार्थो से होती है। ये प्रोटीन के निर्माण घटक है। मानव शरीर के लिये लगभग 22 अमीनो एसिड आवश्यक बताये गये हैं। जिनमें आज ''अतिआवश्यक'' कहलाने वाले निम्न हैं– 1. आईसोल्यूसिन (Isoleucine), 2. ल्यूसिन (Leucine), 3. लाइसिन (Lysine), 4. मेथियोनाइन (Methionine), 5. फिनाइल एलेनाइन (Phenylalanine),

6. थ्रेयोनाइन (Threonine), 7. ट्रिप्टोफेन (Tryptophane) और 8. वेलिन (Valine)। इन्हें ''अतिआवश्यक'' इसलिए कहते हैं क्योंकि इन्हें शरीर पर्याप्त मात्रा में संश्लेषित नहीं कर सकता है और इस कारण इन्हें खाये जाने वाले भोजन से ही प्राप्त करना होता है।

कार्य (Functions)–

शरीर को प्रोटीन की आवश्यकता निम्न कार्यों के लिए हैं –

1. वृद्धि और विकास : ये निर्माण सामाग्री उपलब्ध करते हैं। अर्थात् अमीनो एसिड जिनसे शरीर के प्रोटीन संश्लेषित होते है।
2. शरीर के ऊतकों की मरम्मत और उनका रखरखाव यह बताया जा चुका है कि शरीर के प्रोटीन के टूटने की क्रिया निरंतर होती रहती हैं। अतः उनके स्थान पर ताजे प्रोटीन का सेवन आवश्यक है।
3. प्रतिपिण्डों, एन्जाइम और हार्मोस का संश्लेषण प्रतिपिण्डों एन्जाइम और हार्मोन्स में प्रोटीन होता है। इन्हें उत्पन्न करने के लिये शरीर को प्रोटीन की आवश्यकता होती है।

   प्रोटीन ही शरीर को पर्याप्त ऊर्जा उपलब्ध करा सकता है, परंतु सामान्यतः शरीर अपनी ऊर्जा के लिए प्रोटीन के बजाय कार्बोहाइड्रेट और वसा पर ही निर्भर रहता है।

स्त्रोत :

प्रोटीन के स्त्रोत मुख्य रूप से दो हैं –

1. **प्राणी स्त्रोत** : दूध, अंडे, मांस, मछली आदि।
2. **वनस्पति स्त्रोत** : दालें, अनाज, और गरी आदि।

पोषण की दृष्टिकोण से प्राणिजन्य प्रोटीन वनस्पति प्रोटीन से श्रेष्ठ हैं क्योंकि शरीर के लिए आवश्यक सभी ''अति आवश्यक अमीनो एसिड'' इनमें विद्यमान रहते हैं। परंतु प्राणी जन्य प्रोटीन अपेक्षाकृत महंगे होते है। एवं कम मात्रा में प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त धार्मिक आधार पर भारत में कुछ समुदाय प्राणी जन्य प्रोटीन नहीं लेते। अतः भारत सहित विश्व के अनेक भागों में प्राणिजन्य प्रोटीन की खपत बहुत कम हैं।

इसके विपरीत वनस्पति प्रोटीन सस्ते और आसानी से उपलब्ध हैं। अरहर, चना और मूंग जैसे दलहनों में 25 प्रतिशत तक प्रोटीन होता हैं जिसके कारण इन्हें ''गरीबों के लिए मांस'' कहा गया है। दलहनों में सोयाबीन बेजोड़ हैं क्योंकि इनमें 48 प्रतिशत से अधिक मात्रा के कारण शाकाहारी भोजन में काफी प्रोटीन का योगदान करते हैं। सामान्य तौर पर वनस्पति प्रोटीन में शरीर के लिए आवश्यक अमीनो एसिड में एक या अधिक की कमी रहती हैं अतः इन्हें प्राणी प्रोटीन से निम्न श्रेणी का माना जाता है। तथापि दो या अधिक वनस्पति भोजन (चांवल और दाल) के उचित मिश्रण से अच्छे प्राणी प्रोटीन के समान ही सभी अति आवश्यक अमीनो एसिड की पूर्ति संभव है। यह प्राणी प्रोटीन सस्ता भी होगा। इसे प्रोटीन की ''पूरक क्रिया (Supplementary actions) कहते हैं। कुछ खाद्य पदार्थो में प्रोटीन की मात्रा सारणी में दी गई है।

सारणी – 2

कुछ खाद्य पदार्थों में प्रोटीन की मात्रा

खाद्य पदार्थ	प्रोटीन (ग्राम प्रति 100 ग्राम खाद्य पदार्थ)
प्राणिजन्य खाद्य पदार्थ	
दूध	3.2 – 4.3
मांस	18.0 – 26.0
अंडा	13.0
मछली	15.0 – 23.0
वनस्पति खाद्य पदार्थ	
अनाज	6.0 – 13.0
दलहन	21.0 – 28.0
साग–सब्जी	1.0 – 4.0
फल	1.0 – 3.0
गिरी	4.5 – 29.0
सोयाबीन	43.2
अन्य	
तेल और वसा	शून्य
शक्कर और गुड़	शून्य

दैनिक आवश्यकता :

वयस्कों के लिए प्रोटीन की दैनिक आवश्यकता एक ग्राम प्रति किलोग्राम शरीर के वजन के हिसाब से अनुशंसित हैं। शिशु बच्चे और गर्भवती तथा स्तनपान कराने वाली महिलायें जिन्हें अतिरिक्त प्रोटीन की आवश्यकता होती हैं इसके अपवाद हैं। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद द्वारा अनुशंसित मानक (1981) सारिणी 3 में दिये जाते है।

प्रोटीन की कमी के परिणाम :

प्रोटीन के कमी के परिणाम संक्षेप में निम्नानुसार हैं:

1. गर्भावस्था में : मृत प्रसव, जन्म के समय कम वजन शिशु, अरक्तता।
2. शैशवकाल एवं प्रारंभिक बाल्यावस्था : सूखा रोग, क्वासियोरकोर, मानसिक मंदता, अवरूद्ध वृद्धि एवं विकास।
3. वयस्क : वजन की कमी, अल्पभार, दुर्बल पेशी विन्यास, अरक्तता, संक्रमण की अधिक प्रवणता, बार–बार पतले दस्त लगना, सामान्य सुस्ती, लगातार काम करने की अक्षमता, घाव ठीक होने में देरी, यकृत का सूत्रण रोग, शोफ, जलोदर आदि।

सारणी – 3
अनुशंसित प्रोटीन मात्रा

विवरण	दैनिक आवश्यकता
पुरूष (55 कि.ग्रा.)	5 5 ग्राम
महिला (45 कि.ग्रा.)	4 5 ग्राम

महिला (गर्भावस्था)

+14 ग्राम

(स्तर पान वाली) +25 ग्राम

शिशु	ग्रा/कि.शरीर का वजन	वयस्क पुरूष ग्रा./कि.	शरीर का वजन
0–3 माह	2.3(a)	10–12 वर्ष	1.24
3–6 माह	1.8(b)	13–15 वर्ष	1.10
6–माह	1.8(c)	16–18 वर्ष	0.49
9–12 माह	1.5(d)		

बालक	वयस्क महिला		
1–3 वर्ष	1.83	10–12 वर्ष	1.17
4–6 वर्ष	1.56	13–15 वर्ष	0.95
7–9 वर्ष	1.35	16–18 वर्ष	0.88

(a) दूध के हिसाब से (b) आंशिक वनस्पति प्रोटीन

वसा (Fats)

वसा में कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन रहती है। ये वसीय अम्ल में (Fatty Acids) नामक छोटी इकाइयों से बनते है। कुछ वसा जैसे मूंगफली तेल, जिंजली तेल सामान्य तापक्रम पर द्रव रहते हैं, कुछ वसा जैसे घी और मक्खन धनीभूत रहते हैं। वसा का वर्गीकरण संतृप्त और असंतृप्त वसा में भी किया जाता है। मोटे तौर पर प्राणिजन्य वसा ''संतृप्त'' वसा है और वनस्पति तेल और वसा असंतृप्त वसा है। वर्तमान अनुसांधानों से पता चला है कि संतृप्त वसा (अर्थात् प्राणिजन्य वसा) का अत्यधिक सेवन शरीर के लिए हानिकारक है। हृदयवाहिका विकार, जो पाश्चात्य देशों व भारत के धनी वर्ग में अधिक होता है। इसका कारण संतृप्त वसा का अत्यधिक सेवन है।

कार्य

वसा के निम्नलिखित कार्य हैं–

1. भोजन की वसा ऊर्जा का सान्द्रित स्त्रोत है। एक ग्राम वसा ऊर्जा की 9 कैलोरी की पूर्ति करती है। बराबर वजन की कार्बोहाइड्रेट या प्रोटीन से प्राप्त कैलोरी की संख्या से यह लगभग दुगुनी है।
2. वसा एवं वसा–घुलित विटामिन अर्थात् विटामिन A, D, E और K के वाहक है।
3. भोजन की वसा ''अति आवश्यक वसा अम्ल'' की पूर्ति करती है। लाइनोलेक (Linoieic) एसिड, एक अति आवश्यक वसा अम्ल है जो शल्की (Scaly) त्वचा निर्माण को रोकती है। सामान्यतः त्वचा की सुस्वास्थता की वृद्धि और अनुरक्षण के लिए अतिआवश्यक वसीय अम्ल की आवश्यकता होती है।
4. शरीर के तापमान को स्थिर रखने में त्वचा के नीचे की वसा के परत का योगदान महत्वपूर्ण हैं।
5. हृदय, वृक्क, आंत्र जैसे शरीर के कई अंगों का वसा संभरण प्रदान करते है।
6. वसा युक्त भोजन स्वादिष्ट होता है।

भोजन में वसा दो मुख्य स्त्रोतों से प्राप्त होती हैं –
प्राणीजन्य और वनस्पतिक स्त्रोत।

1. **प्राणीजन्य स्त्रोत** : ये घी, मक्खन, मांस की वसा, मछली का तेल आदि से प्राप्त होती है।

2. **वनस्पति स्त्रोत** : ये वनस्पति तेल जैसे मूंगफली, जिंजली, सरसों, बिनौला, कुसुम(कर्डी), और नारियल तेल आदि से प्राप्त होती हैं।

वनस्पति (Vanaspati) – वनस्पति या वेजिटेबल घी (डालडा, पकाब आदि) जो भारत में भोजन पकाने के लिए लोकप्रिय हैं, वनस्पति तेलों के उद्जनीकरण (Hydrogenation) से तैयार किया जाता है। मूंगफली तेल की कमी के कारण इसके निर्माण में कुछ परिवर्तन किया गया है। अब यह अनेक तेलों की मिलावट है जैसे सोयाबीन, रेपसीड, सूरजमुखी, बिनौला और अपारंपरिक मामुली तेलों सहित अन्य तेल। उद्जनीकरण से द्रव तेल घनीभूत वसा में परिवर्तित हो जाते है।

उद्जनीकरण की मुख्य हानि यह है कि बहुमूल्य ''असंतृप्त वसा अम्ल'' संतृप्त वसा अम्ल में परिवर्तित हो जाती हैं। शासकीय कानून द्वारा भारत में निर्मित वनस्पति को विटामिन 'ए' और 'डी' से संयुक्त किया गया है, जिसके प्रति 100 ग्राम में 2500 अंतर्राष्ट्रीय इकाई (i.u.) विटामिन 'ए' और 175 i.u. विटामिन 'डी' रहता है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष वसा (Visible and invisible fats) : पोषण वैज्ञानिकों ने वसा को प्रत्यक्ष और परोक्ष वसा में वर्गीकृत किया है। भोजन पकाने में काम आने वाले वसा प्रत्यक्ष है। जैसे घी, डालडा, वनस्पति तेल। हमारे नजर में न आने वाले वसा अप्रत्यक्ष हैं जैसे दूध, अंडे, मांस और गिरी का वसा।

वसा की आवश्यक मात्रा (Fat requirements) : भारत में पोषण विशेषज्ञों ने वयस्कों के लिए 15ग्राम प्रत्यक्ष वसा की दैनिक मात्रा की अनुषंसा की है। कैलोरी में वसा संतुलित आहार की कुल कैलोरी की 30–40 प्रतिशत मात्रा उपलब्ध कर सकता है।

वसा और रोग : वसा के अत्यधिक उपभोग से मोटापा और रक्तवाहिकाओं के रोग (Atherosclerosis) हो जाते है। रक्त में कोलेस्ट्राल बढ़ने से धमनी की भित्तियों पर इसकी परत जम जाती है। जिससे हृदय धमनी विकार की संभावना हो जाती है। अत्यावश्यक वसीय अम्लों की कमी से त्वचा कठोर और शुष्क हो जाती है। त्वचा कांतिहीन हो जाती है। सींगदार पुटकों से भर जाती है।

कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrates) : कार्बोहाइड्रेट, कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन से बनते है। ये ऊर्जा से सबसे सस्ते स्त्रोत हैं। भारतीय भोजन में कार्बोहाइड्रेट की बहुत अधिक मात्रा रहती है। यह वांछित कैलोरी की लगभग 90 प्रतिशत होती है संतुलित आहार में कार्बोहाइड्रेट से उपलब्ध कैलोरी कुल मात्रा की 50 से 60 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए।

स्त्रोत : कार्बोहाइड्रेट के तीन मुख्य स्त्रोत है –

1. स्टार्च : यह अनाज (चांवल, गेहूं) कंदों (आलू) में रहते है।

2. शक्कर : (अ) मोनो सैकेराइड : ग्लूकोज, फ्रक्टोज, माल्टोज। (ब) डाइसैकेराइडः सुक्रोज, लेक्टोज, माल्टोज।
3. सेलूलोज : ये सब्जियों, फलों और अनाजों में पाई जाने वाली कठोर रेशेदार परत है। यह मुश्किल से पचती है और इसका कोई पोषणात्मक महत्व नहीं है। तथापि सेलूलोज ''रूक्षांश'' (Roughage) का काम करती है। और कब्ज को रोकती है।

विटामिन (Vitamin)– विटामिन मिश्रित रासायनिक पदार्थ है। शरीर को इनकी बहुत कम मात्रा की आवश्यकता होती है। वसा और कार्बोहाइड्रेट के समान ये ऊर्जा प्रदान नहीं करते हैं। परंतु इनकी भूमिका कम नहीं है। ये मनुष्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य हैं क्योंकि अनेक शारीरिक प्रक्रियाओं में ये उत्प्रेरक का कार्य करते है। ये अस्वस्थता, संक्रमण और रोग से शरीर की रक्षा करते है।

शरीर में लगभग 13 विटामिनों की आवश्यकता बताई जाती है। चूंकि शरीर उनका उत्पादन नहीं कर सकता। (कम से कम पर्याप्त मात्रा में) अतः इन्हें भोजन द्वारा उपलब्ध कराना चाहिए। अधिकांशतः सुसंतुलित आहार, शरीर के लिए विटामिन की दैनिक आवश्यकता की पूर्ति करता है।

वर्गीकरण – विटामिनों का वर्गीकरण दो मुख्य वर्गों में निम्नानुसार हैं –

1. **वसा में घुलनशील विटामिन :**

(a) विटामिन A या रेटिनॉल

(b) विटामिन B

(c) विटामिन E

(d) विटामिन K

2. **जल में घुलनशील विटामिन** :

(a) थियामाइन (विटामिन B_1)

(b) रिबाफ्लोबिन (विटामिन B_2)

(c) निकोटिनिक ऐसिड

(d) पायरीडॉक्सिन (विटामिन B_6)

(e) पेन्टोथेनिक एसिड

(f) फॉलिक एसिड

(g) विटामिन B_{12}

(h) एस्कार्बिक एसिड (विटामिन C)

विटामिन A (Vitamin A = Retional)– विटामिन A वसा में घुलनशील विटामिन है। इसका रासायनिक नाम ''रेटिनाल (Retional)'' है। राष्ट्रीय पोषण संस्थान हैदराबाद के सर्वेक्षणों से ज्ञात हुआ है कि छः माह से अधिक 6 वर्ष तक की आयु के 8 प्रतिशत बच्चों में विटामिन A की कमी के लक्षण थे। भारत सहित कुछ देशों में अंधत्व निवारण में विटामिन A सहायक हो सकता है।

कार्य –

विटामिन A के कार्य अभी तक ठीक स्पष्ट नहीं हैं। ज्ञात कार्य है।

1. स्वस्थ नेत्र और सामान्य दृष्टि के लिए आवश्यक है।

2. शरीर में स्वस्थ उपकला ऊतकों (Epithetial) जैसे त्वचा, शलेष्मल कला (Mucous Membrane) के लिए आवश्यक हैं।

3. बाद विशेषकर कंकाल वृद्धि (Skeletal Growth) से संबंधित है।

4. संक्रमण प्रतिरोधी हैं अर्थात् शरीर को जीवाणु संक्रमण से सुरक्षित करता है।

स्त्रोत् –

1. **प्राणिजन्य स्त्रोत** : प्राणिजन्य भोजन जैसे मक्खन, घी, अंडे, दूध, यकृत और मछली विटामि A के अच्छे स्त्रोत है। (सारणी 4 देखें)

सारिणी –4

विटामिन A के आहार स्त्रोत

	प्रति 100ग्राम में विटामिन A की अंतर्राष्ट्रीय ईकाई (i.u.)
पूर्ण दूध	180
मछली	100
अंडा	2,200
ताजा घी	5,500
चौलाई	2500 से 1100
बंदगोभी	2,000
गाजर	2,000 से 4,300
पका आम	4,800
पका पपीता	2,020
काड लीवर तेल	6,000
शार्क लीवर तेल	9,000 से 60,000

2. **साग सब्जी और फल** – विटामिन A का सबसे सस्ता स्त्रोत हरी पत्ती वाली साग हैं जैसे पालक, चौलाई, सहिजन। 100 ग्राम पत्तीवाली सब्जी (मूल्य कुछ पैसे मात्र) से विटामिन A की दैनिक मात्रा की पूर्ति हो सकती है। अन्य सब्जियाँ (जैसे गाजर, लौकी) और पके फल (आम, पपीता, टमाटर) भी अच्छे स्त्रोत हैं।

उल्लेखनीय है कि सब्जी और फलों में विटामिन A कैरोटीन (Carotene) नामक अन्य रूप (प्रारंभिक Precursor) में रहता है। साधारणतः पत्तीदार सब्जी जितनी अधिक हरी होगी उसमें उतना ही अधिक केरोटीन होगा। कैरोटीन छोटी आंत की भित्तियों में विटामिन A में परिवर्तित होता है और बाद में मुख्य रूप से यकृत में संग्रहित रहता है। ध्यान देने योग्य है भारतीय भोजन में केरोटीन का औसत विलय लगभग 50 प्रतिशत है।

3. मछली के यकृत के तेल – विटामिन A के सबसे प्रचुर प्राकृतिक स्त्रोत है। एक चाय में चम्मच भर काड या शाक मछली के तेल से 6,000 i.u. विटामिन A मिलता है।

4. संश्लेषित (Synthetis) – विटामिन A संश्लेषित रूप में भी उपलब्ध है। भारतीय नींबू–घास (Lemon Grass) में संश्लेषित विटामिन A के निर्माण के लिये कारखाने की स्थापना देश में की गई है।

दैनिक आवश्यकता – विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 1967 में अनुशंसा की, कि विटामिन A की आवश्यकता अंतर्राष्ट्रीय इकाई i.u. के स्थान पर रेटिनाल को माइक्रोग्राम(μg) में दर्शाना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय इकाई को माइक्रोग्राम में निम्नानुसार परिवर्तित किया जा सकता है।

1. i.u. of Vitamine A = 0.3 μg Retinol

भारतीय विटामिन A की अनुशंसित मात्रा सारिणी 5 में दी गई है।

सारिणी – 5

विटामिन A की दैनिक आवश्यकता

	विटामिन A की (रेटिनाल) माइक्रोग्राम
वयस्क पुरूष	750
वयस्क महिला	750
गर्भावस्था में	750

स्तन पान अवस्था में	1,150
शिशु	300–400
बच्चे	300–600

कमी के कारण (Effects of Difficiency) : विटामिन A की कमी के विशिष्ट परिणाम निम्नानुसार है–

1. **रतौंधी** (Nightblindness) – रतौंधी या कम प्रकाश में देखने की अक्षमता विटामिन A की कमी का प्रारंभिक लक्षण है।

2. **शुष्क नेत्र प्रदाह** (Xerophthaimis)– शुष्क नेत्र प्रदाह का अर्थ है। नेत्र की शुष्कता। पलकों को लगभग आधा मिनट तक खुला रखने पर नेत्र का सफेद भाग (नेत्रश्लेष्मता Conjuctive) ''शुष्क'' हो जाता है। विटामिन A की कमी का यह प्रारंभिक नैदानिक लक्षण है। इसके अतिरिक्त नेत्रश्लेष्मता कीचड़दार और शिकनदार दिखाई देता है।

3. **बिटाट चित्तियाँ** (Bitot's Spots) : ये नेत्रश्लेष्मता पर दिखाई देने वाली भूरी सी, त्रिकोणी, उठी हुई, झागदार चित्तियाँ हैं।

4. **स्वच्छपटल मृदुता** (Keratomalacla) : आँख का स्वच्छ मंडल (कालाभाग Cornea) नरम हो जाता है और अपनी पारदर्शिता खो देता है। स्वच्छमंडल आंशिक या पूर्ण रूप से नरम हो सकता है। यदि तत्काल उपचार न किया जाय तो नेत्रगोलक पूर्णरूप से क्षतिग्रस्त या नष्ट हो सकता है जिसका परिणाम अंधत्व है। एक बार इस स्थिति में पहुंचने पर अच्छे से अच्छा भोजन या उपचार नेत्र ज्योति लौटा नहीं सकता।

संग्रह (Storage) –

अधिक मात्रा में लिया गया विटामिन A कुछ महिनों तक यकृत में संग्रहीत किया जा सकता है। अध्ययन से पता चला हैं कि यदि गर्भवती माँ को गर्भावस्था के अंतिम 100 दिनों में विटामिन A की पूरक मात्रा दी जाय तो नवजात शिशु के यकृत में विटामिन A का अधिक संग्रह होगा। अन्य की अपेक्षा ऐसे शिशु का

विटामिन A की कमी की संभावना कम होती है। इसके अतिरिक्त ऐसी माँ के दूध में विटामिन A की मात्रा काफी अधिक होगी।

तथापि लंबी अवधि तक विटामिन A का अधिक सेवन विषाक्त हो जाता है। इसके लक्षणों में सिरदर्द, निद्राअल्पता, वमन और त्वचा से अधिक पपड़ी निकलना हो सकते है। विटामिन A की अधिकता दैनिक आवश्यकता सारिणी 5 में दी गई है।

विटामिन A और अंधत्व :

विटामिन A की कमी के कारण अंधत्व (शोषणज अंधत्व) केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक, आंध्र और पश्चिम बंगाल में गंभीर सामुदायिक स्वास्थ्य समस्या है। यह प्रमाणित किया जा चुका है कि विटामिन A की केवल एक खुराक (200.000 i.u.) 6 माह में एक बार मुंह से खिलाने से अंधत्व रोका जा सकता है। भारत सरकार ने 1970 में प्रमाणित राज्यों के बच्चों में अंधत्व रोकने के लिए राष्ट्रीय विटामिन A रोगनिरोधी कार्यक्रम लागू किया था। यह कार्यक्रम मातृत्य एवं शिशु स्वास्थ्य सेवाओं के अंतर्गत चालू है।

विटामिन D

विटामिन D कई रूपों में रहता हैं परंतु की पोषण की दृष्टि से मुख्य है।

(1) विटामिन D_2 या Ergocalciferol

(2) विटामिन D_3 या Cholecalciferol

विटामिन D_2 प्रकृति में नहीं होता। विटामिन D_3 प्राणिजन्य वसा और मछली तेल में बहुत होता है। यह मानव त्वचा पर धूप लगाने पर 7–डिहाइड्रोकोलेस्टराल (7 Dehydrocholesterol) से भी बनता है।

कार्य –

1. विटामिन D स्वस्थ हड्डियों और दांतों के निर्माण के लिए आवश्यक है। हड्डियों के खनिजीकरण पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव होता है।

2. यह आंतों के द्वारा कैल्शियम और फास्फोरस अवशोषण और उपयोग में सहायक है।

स्त्रोत –

1. **धूप** (Sunlight) : यह विटामिन D का महत्वपूर्ण प्राकृतिक स्त्रोत हैं, विशेषकर भारत में 1 प्रोक्टिमिन 7–डिहाइड्रोकोस्टोरल जो सामान्यतः त्वचा में रहता है, धूप की पराबैंगनी किरणों की क्रिया से विटामिन D_3 में परिवर्तित हो जाता है। त्वचा में विटामिन D3 के संश्लेषण की गति शरीर पर धूप पड़ने की अवधि और त्वचा में रंजक (Melanin) की मात्रा पर निर्भर होती है। रंजक जितना अधिक होगा, संश्लेषण उतना ही कम होगा।

2. **भोजन** : विटामिन D वाले आहार हैं अंडे (पीपक Yolk), यकृत, मछली और मछली तेल। मछली तेल में सबसे अधिक विटामिन D है। दूध में सामान्यतः कम होता है। यह वनस्पति मूल के भोजन में नहीं पाया जाता है।

सारिणी –6

विटामिन D के आहार स्त्रोत

μg प्रति 100 ग्राम	
अंडे	1.5
मक्खन	0.5 – 1.05
यकृत	30 –40
दूध	0.1

दैनिक आवश्यकता –

1. वयस्क : वयस्कों को प्रतिदिन 2.5 माइक्रोग्राम (100 i.u) की आवश्यकता है। अधिकांश जलवायु में सामान्य वयस्क, विटामिन D पर्याप्त मात्रा में दूध से प्राप्त करते हैं।

2. गर्भावस्था, स्तनपान और बढ़ते हुये बच्चे इन अवस्थाओं में विटामिन D की काफी मात्रा आवश्यक होती है। यह दैनिक 400 i.u. (10 माइक्रोग्राम) तक हो

सकती है।

विटामिन D शरीर में संचित होता है। इसलिए अत्यधिक मात्रा में लेने पर विषाक्त लक्षण (Hyper-vitaminosis) उत्पन्न हो सकते है। इससे मिचली, वमन, भूख की कमी, अत्यधिक पेशाब आदि लक्षण दिखाई दे सकते है। विषाक्तता की अति होने पर वृक्क, फुफ्फुस और हृदय जैसे कोमल ऊतकों में खटीमय (Calcified) हो सकते है। जिससे मृत्यु हो जाती है।

विटामिन D की कमी से होने वाली हानियाँ –

(1) बच्चों में सूखरोग और (2) वयस्कों में अस्थिमृदुता (Osteoalacia) होते है। इन दोनों स्थितियों में विशेष रूप से हड्डियों में सामान्य से कम कैल्सियम होता हैं। बच्चे जिन्हें सीधी धूप नहीं मिलती और जो दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अंडे सरीखे प्राणिजन्य आहार नहीं लेते, सामान्यतः सूखारोग से ग्रस्त होते है अस्थिमृदुता (जिसका अर्थ हड्डियों का नरम होता है।) वयस्कों विशेषकर गर्भवती और स्तनपान कराने वाली महिलाओं तथा वृद्धों का रोग है।

विटामिन E

विटामिन E (Tocopherol) कई खाद्य पदार्थों में व्यापक रूप से पाया जाता है मांस, फल और सब्जियों में यह अल्प मात्रा में उपलब्ध हैं। सबसे अच्छे स्त्रोत वनस्पति तेल (जैसे सूरजमूखी, बिनौले, कुसुम तेल) हैं। चूंकि विटामिन E अनेक आहारों में उपलब्ध हैं अतः संतुलित भोजन वाले व्यक्ति इसकी कमी महसूस नहीं करते है। वास्तव में पोषण में विटामिन E की भूमिका अभी तक ज्ञात नहीं हैं तथापि जानवरों में बारबार गर्भास्त्राव, वृषण एवं हृदयपेशी विकृति का संबंध विटामिन E की कमी से माना जाता है।

विटामिन K

विटामिन K (1) ताजी हरी सब्जियाँ और (2) फलों में रहता है। यह थोड़ा बहुत आंत्र जीवाणुओं से भी संश्लेषित होता है। इसकी आवश्यकता रक्त में अच्छी तरह से थक्के बनने (Clotting) के लिए है। अतः इसे रक्तस्त्राव को रोकने और

उपचार के लिए प्रयोग किया जाता है। विटामिन E की कमी नवजात शिशुओं में हो सकती है। क्योंकि उनका आंत्रक्षेत्र जीवाणुहीन (Strile) होता है। पित्तलवण की कमी से अवशोषण या अन्य प्रकार के कुपोषण के विकार वाले रोगियों को भी विटामिन K दिया जाता है। सामान्य संतुलित भोजन करने वाले वयस्कों में विटामिन K की कमी कम मिलती है।

थियॉमाइन **(Thiamine)** या विटामिन $\mathbf{B_1}$थियॉमाइन या विटामिन $\mathbf{B_1}$ जल में घुलनशील विटामिन है। यह **B** वर्ग का महत्वपूर्ण विटामिन है। यह ताप से अपेक्षाकृत अप्रभावित रहता है। परंतु निष्क्रिय या क्षारीय घोल में नष्ट हो जाता है।

कार्य :–

1. कार्बोहाइड्रेट चयापचय में थियामाइन की भूमिका है इसकी कमी से ऊतको और शारीरिक तरल में पायरुबिक अम्ल की एवं दुग्धाम्ल **(Pyruvic and lactic acids)** जमा हो जाता है।
2. तन्त्रिका प्रणाली के सुचारु संचालन के लिए भी यह अति आवश्यक है।

स्त्रोत :–

थियॉमाइन सभी प्राकृतिक खाद्य पदार्थो में थोड़ी मात्रा में पाया जाता है। सबसे अधिक बिना पीसे अनाज, दालें और गिरी, विशेषकर मूंगफली में होता है। भाारतीय भोजन में थियॉमाइन के मुख्य स्त्रोत अनाज (जैसे गेंहूँ , चावल) जो 60 से 85 प्रतिशत पूर्ति करते है। मॉस मछली, अंडे, सब्जी और फलों में विटामिन $\mathbf{B_1}$ अपेक्षाकृत कम है।

सारणी – 7

खाद्य पदार्थ	**मिग्रा./प्रति 100ग्राम**
गेंहूँ	0.54
चावल, कच्चा हाथ का कुटा	2.00
चावल, मिल का कुटा	0.11
मूंगफली	0.90

दूध चूर्ण	0.05
अंडा, मुर्गी का	0.13
यकृत	0.36
मछली	3.10

क्षति (Losses) :-

अनाज को धोने और पकानें में थियॉमाइन शीघ्र नष्ञ हो जाता है। चांवल को मिल में कुअने से थियॉमाइन काफी मात्रा में नष्ट हो जाता ह। इसके विपरीत अन्य उसना (Parboiled) और हाथकुट चावल में थियॉमाइन अधिक रहता है। फलों और सब्जी को लम्बे समय तक रखने से आंशिक रुप से नष्ट होता है।

दैनिक आवश्यकता —

थियॉमाइन की दैनिक आवश्यकता 0.5 मि.ग्रा. प्रति 1000 कैलोरी मात्रा हैं कमी से हानि :—

थियॉमाइन की कमी से (1) बेरीबेरी और (2) वर्निक मस्तिस्क विकृति (Wernick's encephalopathy) होती है। मामूली कमी से टखानों और घ्राुटनों में झटके (Jerks) के अभाव तथा पिंडलियों में दाबवेदना पाई जाती है। शिशुओं में होने वाली बेंरी बेरी को शिशु बेरी बेरी (Infantile Beriberi) कहते है। आंध्रप्रदेश के तटीय जिलों में जहां लोग मिल का कुटा, सफेद पालिस हुआ चावल खाना पसंद करते है, वहां बेरीबेरी स्थानिक (Endemic) है।

रिबोफ्लेबिन (Riboflavin) या विटामिन B_2

कार्य — इसके द्वारा प्रोटीन, वसा और कार्बोहाइड्रेट का चयापचय होता है।

स्त्रोत :— दूध और इससे बने पदार्थ, अण्डे, लिबर और हरी पत्तीदार सब्जीयाँ, अच्छे स्त्रोत है। गेंहू बाजरा और दाल में मामूली मात्रा में रहता है। परंतु चावल में बहुत कम रहता है। रिबोफलेबिन अंकुरित दलहनों से भी मिलता है। बड़ी आंत में जीवाणुओं द्वारा संश्लेषण एक अतिरिक्त स्त्रोत है।

दैनिक आवश्यकता – 0.6 मि.ग्रा. /1000 कैलोरी ग्रहण मात्रा।

कमी से हानि – कमी के लक्षण हैं एंगुलर मुखाक (Angular dyp] syoyod) होंट का फटना, जीभ में जलन, आंखों में लालीमा और जलन, त्वचाशेथ।
नियेसिन (Niacin) कार्य नियेसिन या निकोटिनिक एसिड की आवश्यकता शरीर को कार्बोहाइड्रेड के उपयोग और ऊतक निर्माण के लिए पड़ती हैं
स्त्रोत – अनाज की दालें, दलहन, गिरी, मॉस, लिवर और चूजों में अच्छी मात्रा में रहता है। मक्का मेंबहुत कम परंतु मूंगफली में विशेष रुप से अधिक रहता है।

आवश्यकता – दैनिक आवश्यकता 6.6 मिली. प्रति 1000 कैलोरी है।
कमी से हानियाँ– इसकी कमी से पेलाग्रा (Pellagra) रोग होता हहै जिससे लक्षण है जीभ में व्रण, रंजित पपड़ीदार त्वचा और अतिसार। धूप में खुले रहने वाले अंगों की त्वचा और अतिसार। धूप में खुले रहने वाले अंगो की त्वचा रंजित और पपड़ीदार हो जाती है उदाहणार्थ, हाथ और पैर, चेहरा और गर्दन आदि में। रंजकता समान रुप से फैलती है। निकोटिन एसिड की अधिक मानसिक विकार का कारण बन सकती है। पेलोग्रा उन क्षेत्रों में पाया जाता है। जहां मक्का मुख्य अनाज हैं भारत में ज्वार **(Soghum vulgare)** खये जाने वाले क्षेत्रों मे भी पेलाग्रा देखा जाता है। इसका कारण ज्वार में अत्यधिक मात्रा में अमीनों एसिड, ल्युसिन **(Leucine)** का होना है।

पायरीडाक्सिन (Pytifoxine)

पायरीडाक्सिन या विटामिन B_1 की अमीनो एसिड, वसा और कार्बोहाइड्रेड के चयापचय में महत्वपूर्ण भूमिका हैं यकृत , मॉस, मछली, अनाज के दानों और फलियों **(Legumes)** में पायरीडाक्सिन अधिक पाया जाता है। पायरीडाक्सिन की कमी से त्वचा विक्षिति **(Lesions)** होंठ फटना **(Chelosis)** जिह्वाषोध **(Glossitis)** तथा बच्चों को मरोड़ होती है। पायरीडाक्सिन की आवश्यकता का ठीक ज्ञान नहीं है। वयस्कों को संभवतः 1.5 मिली प्रतिदिन की आवश्यकता है। मनुष्य के साधारण भोजन में सामान्यतः पर्याप्त पायरीडाक्सिन रहता है।

पेंटोथेनिक (Pantothenic acid)

पेटोथेनिक मांसाहारी और शाकाहारी भोजन में व्यापक रुप से

रहता है। इसकी कमी से मनुष्य में कोई लक्षण नहीं पाए गये है। इसकी आवश्यकता की स्पश्ट जानकारी नहीं है।

फॉलिक एसिड

फॉलिक एसिड को ''फोलासिन **(Folacin)** भी कहते है। यह **DNA (de-** शरीर की रोगप्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाती है।

स्त्रोत –

(1) फल सब ताजे फलों में C रहता है। आंवला या भारतीय गुजबेरी, में ताजा और सूखा दोनों में, यह बहुत अधिक मात्रा में रहता है।अमरुद एक अन्य सस्ता परन्तु अच्छा स्त्रोत है (2) सब्जियाँ विशेषकर हरी पत्तीवाले सब्जियों में विटामिन C प्रचुर मात्रा में होता है। कन्द, मूल, (आलू)में बहुत कम होता है।अंकुरित दलहन एक और स्त्रोत है। (3) प्राणिजन्य खाद्य : मॉस और दूध में बहुत कम होता है।

सारणी – 8

विटामिन C के खाद्य स्त्रोत मि.ग्रा. / प्रति 100 ग्राम

फल	सब्जियाँ
आवला	600
चौलाई	99
अमरुद	212
बंधगोभी	124
नींबू	63
पालक	28
संतरा	30
बैगन	12
टमाटर	27
फूलगोभी	56
अंकुरित दलहन	
आलू	17

चना	15
प्याज	17
मूंग	16
मूली	15

कमी से हानियाँ : –

विटामिन C की कमी से स्कर्वी **(Scurvy)** नामक रक्तस्त्रावी रोग होता है। स्कर्वी के गंभीर रोगियों में पुराने घाव फुटकर नये घाव फिर बन सकते है। अधिक कमी से मामूली रक्तस्त्राव और घाव ठीक होने में विलंब होता है।

मात्रा :–

भारत में अनुशंसित मात्रा निम्नानुसार है –

वयस्क	40 मि.ग्रा. प्रतिदिन
गर्भावस्क्था	40 मि.ग्रा. प्रतिदिन
स्तनपान की अवस्था	40 मि.ग्रा. प्रतिदिन
शिशु और बच्चे	20–40 मि.ग्रा. प्रतिदिन

खनिज (Minerals)

शरीर में लगभग 24 खनिज है जो सब हमें भोजन से प्राप्त करना चाहिए। इसमें अधिकांश खाद्य पदार्थो में व्याप्त है जिससे संतुलित आहार से शरीर को आवश्यक मात्रा में इनकी पूर्ति होती है।

खनिजों के दो मुख्य वर्ग है – (1) मुख्य खनिज – ये है कैल्सियम, फास्फोरस, सोडियम आदि (2) सूक्ष्ममात्रिक **(Trace- elements)** : इनकी सूक्ष्म मात्रा आवश्यक होती है, यथा आयोडिन, फ्लोरिन, जिंक, कोबाल्ट आदि।

कार्य –

(1) कड़ी संरचना का निर्माण – अस्थियों जैसी कड़ी संरचना के निमार्ण के लिए

कैल्सियम, फास्फोरस और मैग्निशियम जैसे कुछ खनिज आवश्यक है।

(2) शरीर क्रियात्मक कार्य – कुछ खनिज शारीरिक द्रव्यों में पाये जाते है और शरीर क्रियात्मक कार्य करते है तथा परासरणी दबाव **(Osmotic)** बनाये रखते है।

(3) विशिष्ट कार्य – कुछ खनिज द्रव्यों की आवश्यकता विशिष्ट कार्य के लिए होती है उदाहरण के लिए आयरन के अवशोषण के लिए आवश्यक है। शरीर द्वारा वांछित महत्वपूर्ण खनिजों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है।

कैल्सियम –

कैल्सियम शरीर का मुख्य खनिज तत्व है। शरीर के वजन में इसका अंश 1.5 से 2 प्रतिशत रहता है, अर्थात वयस्क व्यक्ति के शरीर में 850 से 1400 ग्राम कैल्सियम हो सकता है। शरीर का लगभग 99 प्रतिशत अस्थियों में पाया जाता है। कैल्सियम रक्त में भी रहता है – लगभग 10 मिग्रा. प्रति 100 मिली.**of Bload**

कार्य –

शरीर को कैल्सियम की आवश्यकता (1) अस्थियों और दांतों के निर्माण और अनुरक्षण के लिए (2) रक्त स्कन्दन **(Coagulation)** के लिए (3) तन्तुपेशी क्षोभण **(Neuromuscular irritability)** और कोशिकीय (Capillary per**meability)** के नियमन के लिए है।

स्त्रोत –

दूध कैल्सियम का स्त्रोत है। एक लीटर गाय के दूध में 1,200 मिग्रा. कैल्सियम होता है। मछली, अंडे, हरी पत्ती वाली सब्जियों और फल अन्य अच्छे स्त्रोत हैं। सब्जियों में आक्जेलिक **(Oxalic)** एसिड के कारण उनमें विद्यमान कैल्सियम के साथ अघुलनशील पदार्थ, कैल्सियम आक्सलेट, बनाता है। भारत में चूने के साथ पान खाने की सामाजिक प्रथा भी कक्लिसयम का एक स्त्रोत हो सकती है।

कमी से हानियाँ –

कैल्सियम की कमी के कारण सुस्पष्ट रोग का वर्णन नही हुआ है। विटामिन **D** के पर्याप्त मात्रा में लेने पर सूखारोग और अस्थिमृदुता नहीं होते।

मात्रा –

वयस्क के लिए अनुशसिंत मात्रा 0.5 ग्राम प्रतिदिन है। गर्भावस्था और स्तनपान में 1.0 ग्राम अधिक होना चाहिए।

लोहा (Iron)

शरीर में 3 से 4 ग्राम लोहे के मात्रा अनुमानित है और इसका 75 प्रतिशत रक्त में पाया जाता है।

कार्य –

लोहे की आवश्यकता हीमोग्लोबिन निर्माण के लिए है। शरीर में लोहे का प्रमुख कार्य '' आक्सीजन परिवहन '' है।

स्त्रोत :–

लोहा माँसाहारी और शाकाहारी, दोनों खाद्यों में रहता है। मांसाहारी खाद्य (यकृत, गुर्दा, माँस , अंडा, पीतक) में विद्यमान लोहा, शाकाहारी खाद्य (अनाज, दाल, पत्ती वाली सब्जियाँ) की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से अवशोषित होता है।लोहे के बर्तनों में भोजन पकाने से काफी मात्रा में लोहा प्राप्त हो सकता है।

कमी से हानियां :–

लोहे की कमी से अरक्तता होती है। भारत में अरक्तता अनेक लोगों में रहती है। विशेषकर गर्भवती महिलाओं और शाला पूर्व आयु के बालकों में।

मात्रा :–

भारत में अनुशंसित मात्रा निम्नानुसार है

वयस्क पुरुष	24 मिग्रा. प्रतिदिन
वयस्क महिला	32 मिग्रा. प्रतिदिन
गर्भावस्था	40 मिग्रा. प्रतिदिन
स्तनपान	24 मिग्रा. प्रतिदिन

सोडियम (Sodium)

सोडियम अनेक खाद्यों में रहता है और पकाते समय भी नमक के रूप में मिलाया जाता है । सोडियम सभी शारीरिक तरलों में रहता है। ओर मूत्र

और पसीने द्वारा शरीर से बाहर निकलता रहता है। सोडियम क्लोराइड के निःशोषण से पेशियों में ऐंठन होती है। जलवायु व्यवसाय और शारीरिक कार्य के अनुसार सोडियम क्लोराइड की दैनिक अवश्यकता 10 से 25 ग्राम होती है।

फास्फोरस (Phosphorus)

अस्थियों और दांत के निर्माण के लिए फास्फोरस अनिवार्य है। सभी चयापचयों में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण हैं यह खाद्य पदार्थो में व्यापक रुप से रहता है। इसकी कमी कभी कभी होती है दैनिक आवश्यकता लगभग 0.5 ग्राम होता है।

सूक्ष्ममात्रिक तत्व (Trae elements) : -

खनिजों के एक वर्ग की शरीर को अल्प या सूक्ष्म मात्रा में आवश्यकता होती है इन्हें सूक्ष्ममात्रिक तत्व कहते हैं इनमें आयोडिन, तांबा , कोबाल्ट, मेग्निशियम आदि शमिल है। इनमें से अनेक तत्वों के कार्य पूर्ण रुप से ज्ञान नहीं है जब तक मनुष्य खनिज लेता है तब तक इन तत्वों की कमी से किसी रोग की होने की संभावना नहीं होती है।

आयोडिन (Iodine) :-

आयोडिन सूक्ष्ममात्रिक तत्व हैं गर्दन में स्थित अवटुका ग्रन्थि **(Crude)** नमक (समुद्र जल से तैयार) समुद्री मछली और काड लिवर तेल।

कमी से हानियाँ :–

आयोडिन की कमी से गर्दन में अवटका ग्रंन्थि की सूजन हो जाती है जिसे '' गलगण्ड **(Goitre)** '' कहते है काश्मीर से आसाम तक फैले हिमालय के तराई वाले क्षेत्रों में गलगण्ड सामुदायिक स्वास्थ्य समस्या है। यह भारत की परंपरागत ''गलगण्ड पट्टी'' (Goitre Belt) है। हाल के अध्ययनों से पता चला है कि भारत में गलगण्ड अधिक व्यापक है उदाहणार्थ महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, गुजरात, आन्ध्र पंजाब और केरल। इन क्षेत्रों में औसत प्रसार दर 30प्रतिशत है जो 10 से 60 प्रतिशत तक घटती बढ़ती है।

आवश्यकता – आयोडिन की दैनिक आवश्यकता पूरे दिन में सामान्य नमक के स्थान पर ''आयोडिन युक्त नमक **(Lodised Salt)**'' अर्थात सामान्य नमक में

पोटेशियम आयोडिन मिलाकर उपलब्ध करा रही है।

फ्लोरिन (Fluorine) फ्लोरिन शरीर के लिये आवश्यक एक और महत्वपूर्ण सूक्ष्ममात्रिक तत्व है। यह अधिकतर अस्थियों और दातों में पाया जाता है।

स्त्रोत – मनुष्यों के लिए फ्लोरिन की मुख्य स्त्रोत पेय जल है। सूक्ष्म मात्रा में यह अनेक खाद्यों जैसे समुद्रीह मछली, पनीर चाय में भी पाया जाता है।

कमी से हानियाँ – फ्लोरिन की कमी से दंतक्षरण सम्बंधित रोग होता है इसके विपरीत अधिक फ्लोरिन लेने से कंकाली फ्ललुरोसिस **(Skeital Fluorisis)** नामक अपंग रोग की स्थिति बन जाती है। कंकाली फ्लुरोसिस आन्ध्रप्रदेश और पंजाब के कुछ भागो में पाया गया है जहॉ पेय जल में अधिक फ्लोराइड रहता हैं
आवश्यकता – पेय जल में फ्लोराइड का सर्वोत्तम स्तर 0.5 से 0.8 मि.ग्रा. प्रति लिटर है।
जल :– जल मानव की मूलभूत आवश्यकता है। मानव शरीर भर का 60 प्रतिशत से अधिक जल है।
वितरण :– जल 3 उपखंडों में विभाजित है : (1) अन्तःकोशिका तरल **(Intercellular Fluid)** यह शरीर के भार का लगभग 5 प्रतिशत है।

स्त्रोत – मानव शरीर दो मुख्य स्त्रोतों से जल प्राप्त करता है पेय जल और भोजन थोड़ी मात्रा (लगभग 800 मिली.) चयापचय के परिणाम स्वरुप ऊतको से निर्मित होती है।

कार्य :– (1) जल अनेक जैव , शारीरिक तरलों जैसे रक्त, लसीका (Lymph) मस्तिष्क मेरु तरल का (CSF) का अनिवार्य घटक है। (2) शारीरिक तापमान में नियमान में सहायक है। (3) शरीर के अन्दर पोषाको के परिवहन में सहायता करता है।(4) शरीर के ऊतको के निर्माण और मरम्मत में महत्वपूर्ण्ज़ है। (5) यह अनेक शारीरिक प्रक्रियाओं में प्रयुक्त होता है जैसे पाचन, अवशोषण और शरीर के अवशेषों को निकालने में (6) इसके अतिरिक्त नहाने, धोनें व अनेक कार्यो के लिए जल आवश्यक है।

जल हानि :– शरीर से जल की हानि इस प्रकार होती है – (1) गुर्दे द्वारा मूत्र से (2) त्वचा द्वारा स्वेद और पसीने से (3) फुफ्फुस द्वारा िश्वसित वायु में और (4) कुछ हद तक आँत द्वारा मल में, स्तनपान कराने वाली महिलाओं मं दूध के द्वारा।

आवश्यकता :–सामान्य स्वस्थ व्यक्ति को प्रतिदिन 6 गिलास जल पीना चाहिए। (1 मिली. प्रति कैलोरी भोजन) भारत जैसे गरम देशों मं रहने वाले लोगों को ठंडे देशों में रहने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक जल की आवश्यकता होती है। सामान्य जल सन्तुलन को बनाये रखने के लिए अन्तरग्रहीत जल और जल हानि समान होना चाहिए

जल हानि का विकृत प्रभाव :– अत्यधिक जल हानि (जैसी तीव्र अतिसार में होती है) का परिणाम निर्जलीकरण है।जल अवरोधन (जैसा वृक्क पात में होता है) का परिणाम शोफ है।

खाद्य पदार्थो के पोषक मान :– **(Nutritive of foodstuffs)**

पोषक मान के आधार पर खाद्य पदार्थो को निम्नानुसार वर्गीकृत किया गया है :

1. अनाज और ज्वार बाजरा
2. दलहन
3. साग – सब्जी
4. फल
5. दूध और दूध से बने पदार्थ
6. माँस, मछली, अंडा
7. वसा और तेल
8. गुड़ और शक्कर
9. मसाले
10. पेय पदार्थ

विरूद्ध आहार परिचयः–

आहार का मनुष्य के स्वास्थ्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। सभी आहार –द्रव्यों की संरचना पृथ्वी, अप् आदि पंचभूतों के सम्मिश्रण से हुई है। इन्ही भूतों

की उपस्थिति विभिन्न द्रव्यों में भिन्न–भिन्न अनुपात में है। इसी आधार पर द्रव्य विशेष में रस, गुण, दोश, वीर्य, विपाक आदि तत्वों का विश्लेषण किया जाता हैं। यही कारण है कि मनुष्य विशेष की प्रकृति और द्रव्य के रसादि के आधार पर हिताहार की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार, मनुष्य की प्रकृति के अनुकूल आहार–द्रव्यों का सेवन करने से उसका आरोग्य बना रहता है। इसके विपरीत, प्रकृति के प्रतिकूल आहार द्रव्यों आर्थात् अहिताकार का सेवन करने से शरीरस्थ दोष, धातु आदि असन्तुलित होकर विभिन्न रोगों को जन्म देते हैं। परन्तु द्रव्यों के गुणों और उनकी संरचना का ज्ञान ही प्र्याप्त नही है क्योंकि एक ही द्रव्य का स्वतन्त्र रूप में सेवन हितकर है, तो किसी दूसरे द्रव्य के साथ संयुक्त करने पर वह अहितकर भी हो सकता है। जैसे– दूध और मछली, तथा दूध और अम्ल पदार्थ। इसी प्रकार,एक पदार्थ किसी स्थान विशेष के लोगों के लिए हितकर हो सकता है,तो दूसरे स्थान के निवासियों के लिए अहितकर। इस प्रकार के पदार्थ विरूद्धाहार कहलते है। संक्षेप में, जिस आहार के सेवन से शरीर में दोष प्रकुपित तो हो जाते हैं, परन्तु वह आहार दोषों को शरीर से निसृत नहीं करता अथवा उनका शमन नहीं करता, अहिताहार या विरूद्धाहार कहलाते है। इस विरूद्धाकार का सेवन शरीर में धीरे–धीरे विषैला प्रभाव (slow poisoning) फैलता है। इससे रस, रक्त, आदि धातु दूषित हो जाते हैं। परिणामतः अनेक प्रकार के गम्भीर रोगों की उत्पत्ति हो सकती है। अनेक बार शरीर में अत्यधिक कष्टप्रद रोग उत्पन्न हो जाते है। परन्तु उनका कोई प्रत्यक्ष कारण दिखाई नही देता। वस्तुतः इस प्रकार के रोग विरूधाहार के निरन्तर सेवन के फलस्वरूप ही उत्पन्न होते हैं। इस विरूध ाहार के सेवन से कोई भी गम्भीर रोग यकायक तो नही हो सकता। किन्तु कुछ समय तक निरन्तर इस प्रकार के भोजन का प्रयोग करने से ये पदार्थ शरीर पर दुष्प्रभाव डालना प्रारम्भ कर देते है और रसादि धातु दूषित हो जाते हैं। इसके परणामस्वरूप, कुष्ठ जैसे भयानक चर्म रोग, किलास (Leucoderma),नपुंसकता (Impotency), अन्धापन, पीनस (Chronic Rhinitis), रक्ताल्पता(Anemia), ग्रहणी(Sprue Syndrome), विसर्प(Erysipelas), जलोदर(Ascites),पेट की बीमारियॉ,मन्दाग्नि,विस्फोट(Pustular Eruption), भगन्दर(Fistula-in Oano),मूर्च्छा (Fainting),मद (Intoxication),शोथ (Oedema), अम्लपित (Hyper-acidity),ज्वार, गलग्रह (Tympanitis), उन्माद (Insanity), आमविष,सन्तान में विकार और यहॉ तक कि मृत्यु भी हो स्कती है।

अतः उपर्युक्त दुष्परिणामों से बचने के लिए पिरूद्धाहार का भली–भॅाति ज्ञान होना अत्यावश्यक है। इस विरूद्धाहार की मान्यता अनेक आधारो पर की गई है। इस विरूद्धाहार की मान्यता अनेक आधारों पर की गई है। तदनुसार इसे निम्नलिखि श्रेणियों में विभक्त किया गया हैः–

1. **<u>देश की दृष्टि से विरूद्धाहारः–</u>**

प्रत्येक स्थान की भौगोलिक स्थिति के अनुसार ही वहॉ का मौसम भी होता है। यदि मौसम और आहार द्रव्य, दोनों में एक ही जैसे गुण अथवा विशेषताएॅ पाई जाती है, तो वह विरूद्ध भोजन कहलाएगा। उदहरणतः आनूप देश अथवा नमी–प्रधाान स्थानों (Aquatic region),का मौसम शीतल, स्निग्ध व नमी वाला(Moist), होता है। ऐसे स्थानों में शीतवीर्य, स्निग्ध, भारी और अभिष्यन्दी पदार्थ विरूद्ध अथवा अहितकार है। क्योंकि इनके सेवन से 'कफ दोष' की वृद्धि होगी तथा तज्जन्य रोग उत्पन्न होंगे। इसी प्रकार, शरीर में जलीय अंश की वृद्धि होने से रस, रक्त, मॉस, लसीका आदि जलीय तत्वों की मात्रा में भी आवश्यकता से अधिक वृद्धि होगी। अतः केरल, बंगाल जैसे आनूप देशों में रूक्ष, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण व हल्के पदार्थ हिताहार अथवा अनुकूल रहेंगे। इसके विपरीत,मरूस्थल अथवा जांगल प्रदेश (Arid Region) में जहॉ वायु की प्रधानता होती है, रूक्ष, तीक्ष्ण, हल्के तथा कटु पदार्थ अहिताहार है। क्योकि ये द्रव्य शरीर में वायु की और अधिक वृद्धि करेंगे ओर व्यक्ति तज्जन्य रोगों का शिकार होगा।

2. **<u>काल अथवा मौसम की दृष्टि से विरूद्धाहार</u>**ः–

सर्दी के मौसम में शीतल, रूक्ष, कटु रस प्रधान व हल्का भोजन तथा ग्रीष्म ऋतु में गर्म, स्निग्ध, तथा भारी भोजन विरूद्धाहार माने जायेंगे। क्योकि शीत ऋतु में मनुष्य की पाचन–शक्ति अथवा जाठराग्नि तीव्रतम होती है। अतः इस जाठराग्नि को शान्त करने के लिए मधुर, अम्ल तथा लवण रसयुक्त, भारी तथा स्निग्ध भोजन आवश्यक है। इस प्रकर के भोजन से शरीर में धतुओं वृद्धि होगी। अन्यथा भारी भोजन के अभाव में शरीर के धातुओं का ही पाचन होने लगेगा और वायु दोष की अधिकता हो जाएगी। परिणमतः व्यक्ति रोगों का शिकार हो जाएगा। इसके विपरीत, ग्रीष्म ऋतु में आदान काल के कारण जाठराग्नि बहुत मन्द हो जाती है तथा पसीना अधिक मात्रा में जलीय अंश की कमी हो जाती है। ऐसे मौसम में शीतल, तरल व हल्के भोजन का सेवन की अनुकूल रहता है।

3. **पाचकाग्नि की दृष्टि से विरूद्धाहारः–**

शरीर की पाचकाग्नि अथवा जाठराग्नि की क्षमता के अनुसार भोजन न करना भी विरूद्धाहार कहलाता है। यह जाठराग्नि(Digestive Power),भी आयुर्वेद की दृष्टि से चार प्रकार की है मन्दाग्नि(Low Power of Digestion),और विषमाग्नि (Irregular Power of Digestion),। यदि किसी व्यक्ति में पाचकाग्नि अथवा जाठरग्नि मन्द है, तो उसके लिए भारी, स्निग्ध, ठण्डा और मधुर रस वाला भोजन अहितकार या विरूद्ध होगा। जबकि ऐसे व्यक्ति के लिए उपवास तथा हल्का, रक्ष व उष्ण भोजन अलुकूल व हितकर रहेगा। इसी प्रकार तीक्ष्ण जाठरग्नि वाले मनुष्य के लिए हल्का, रूक्ष व गर्म भोजन विरूद्धाहार कहलाएगा। क्येकि इस प्रकार का भोजन आग में ईधन के समान उसकी अग्नि को और अधिक बढ़ाएगा। परिणमतः शरीर की धातुओं का ही पाचन होने लगेगा व व्यक्ति दुर्बल होता चला जाएगा। अतः तीक्ष्णग्नि वाले व्यक्ति के लिए भारी, स्निग्ध व मधुर रस प्रधान भोजन अनुकूल है। यदि यह भोजन उचित समय पर नही जाता और इस भोजन में किसी प्रकार का असन्तुलन है तो विरूद्धाहार कहलाएगा। विषमाग्नि व्यक्ति के लिए खूब भूख होने पर न खाना आथवा हल्का भोजन करना,तथा भूख न होने पर भी अधि ाक मात्रा में व सारी भोजन का सेवा विरूद्धाहार है।

4. **मात्रा की दृष्टि से विरूद्धाहारः–**

सामान्यतः शहद और घी का सेवन स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है। परन्तु शहद और घी दोनो को बराबर मात्रा में मिलाकर सेवन करना विरूद्धाहार है। क्योंकि ये द्रव्य इस रूप में शरीरस्थ दोषों, धातुओं और मलों को दूषित करके शरीर में विषाक्तता फैलाते है।

5.सात्म्य की दृष्टि से विरूद्धाहारः–

किसी पदार्थ का निरन्तर प्रयोग करने से जब मनुष्य उसका अभ्यस्त हो जाता है और वह वस्तु उसके अनुकूल हो जाती है, तो वह सात्म्य कहलाता है। इसके विपरीत, जिस पदार्थ का मनुष्य अभ्यस्त नही होता और न ही वह पदार्थ उसके अनुकूल होता है, असात्म्य कहलता है। सात्म्य के स्थान पर आसात्म्य का प्रयोग अथवा सेवन भी विरूद्धाहार है। उदाहरणतः जिस मनुष्य को प्रतिदिन चावल खाने का अभ्यास है, उसके लिए चावल सात्म्याहार है। चावल के स्थान गेहूँ अथवा जौ का प्रयोग उसके लिए असात्म्य होगा अतः विरूद्धाहार है।

इसी प्रकार, केवल कटु और उष्ण पदार्थो का सेवन करने वाले मनुष्य के लिए मीठे और शीतल पदार्थ आसात्म्य, अतः विरूद्धाहार है। केवल मांसाहारी मनुष्य को मांस के स्थान पर केवल शाक–सब्जियों व अनाज का सेवन कराना भी विरूद्धाहार है। इस प्रकार का भोजन विभिन्न रोगों को जन्म देता है।

6. <u>वायु, आदि दोषो की दृष्टि से विरूद्धाहार</u>:–

ऐसे पदार्थ सेवन जिसमें वायु, कफ आदि वही दोषवर्द्धक गुण पाए जाते हैं, जो कि उपभोक्ता की प्रकृति सदृश हैं। आर्थात् कफ–प्रकृति वाले व्यक्ति द्वारा कफवर्द्धक पदार्थो का सेवन वायु–प्रकृति वाले मनुष्य द्वारा वायुवर्द्धक पदार्थो का सेवन तथा पित्त–प्रकृति वाले मनुष्य द्वारा पित्तवर्द्धक पदार्थो का सेवन विरूद्धाहार कहलाता है। क्योंकि इस प्रकार के भोजन से शरीर में कफ व पित्त दोष और अधिक प्रकुपित होंगे तथा तज्जन्य रोग उत्पन्न होंगे। उदाहरणतः वात–प्रकृति मनुष्य द्वारा रूक्ष, भारी व अम्ल पदार्थो। का सेवन, तथा पित्त प्रकृति मनुष्य द्वारा उष्ण, कटु और तले पदार्थो का सेवन पिरूद्धाहार है।

7. **<u>संस्कार अथवा पाक की दृष्टि से विरूद्धाहार</u>**:–

अनेक बार भोज्य पदार्थ को जिस ढंग से पकाया जाता है, उससे विषैला प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार का भोजन विरूद्धाहार कहलाता है। यथा–अम्ल पदार्थ को तॉबे के बर्तन में पकाना, मोर के मॉस को ऐरण्ड की लकड़ी में पिरोकर भूनना, विरूद्धाहार के उदाहरण हैं।

8. **<u>वीर्य की दृष्टि से विरूद्धाहार</u>**:–

परस्पर विपरीत वीर्य वाले पदार्थो का एक साथ सेवन करना अर्थात् शीतवीर्य द्रव्य को उष्णवीर्य द्रव्य के साथ मिलाकर सेवन करना वीर्य की दृष्टि से विरूद्धाहार है। उदाहरणार्थ मछली प्रकृतिक रूप से ही शीतवीर्य है तथा दूध उष्णवीर्य, अतः दोनों का एक साथ सेवन करना विरूद्धाहार है। इसी प्रकार, संतरा, मौसम्मी, सेव, अनानास आदि शीतवीर्य फलों को उष्णवीर्य दूध, दही अथवा लस्सी के साथ सेवन करना भी विरूद्धाहार के अन्तर्गत आता है।

9. **<u>कोष्ठ की दृष्टि से विरूद्धाहार</u>**:–

कोष्ठ की दृष्टि से मुख्यतः दो प्रकार के मनुष्य है। क्रूर कोष्ट तथा मृदु कोष्ट। जिन मनुष्यों में मल विसर्जन की क्रिया कठिनता पूर्वक होती है

तथा वायु के प्रकाप के कारणजिनका मल कठिन होता है, क्रूरकोष्ट कहलाते हैं। इसके विवरीत, जिन मनुष्यों में मल–विसर्जन की क्रिया सुबिधापूर्वक होती है तथा पित्त के प्रकोप के कारण जिनका मल अपेक्षाकृत द्रव रूप में होता है, मृदुकोष्ट कहलाते है। इन क्रूरकोष्ठ व्यक्तियों द्वारा न्यून मात्रा में अल्पवीर्य वाले (कम ताकत पर, यथा–हरी सब्जियॉ आदि), कब्जकारक व वायुवर्द्धक पदार्थो (यथा–दालें यादि) का सेवन विरूद्धाहार है। क्योंकि ये पदार्थ मल को और अधिक बॉधने (कठोर बनाने) के साथ–साथ बवासीर, गुदपाद, आदि रोगों को भी उत्पन्न करते है। इसके विपरीत, मृदुकोष्ट मनुष्य द्वारा भारी, अधि क शक्तिशाली व रोचक पदार्थो का सेवन तथा अधिक मात्रा में सेवन विरूद्धाहार है। उड़द, दूध तले हुए भारी पदार्थ व पुडिंग चनककपदहद्धार इसी श्रेणी के भेज्य पदार्थ है तथा पेट में दर्द व अफारा आदि उत्पन्न करते है।

10. **<u>शारीरिक अवस्था की दृष्टि से विरूद्धाहार</u>**:–

शरीर की अवस्था के सदृश गुण वाले पदार्थो का सेवन भी विरूद्धाहार है।उदाहरणतः शारीरिक श्रम व्यायाम और संभोग करने से वायु दोष प्रकुपित हो जाता है। ऐसी स्थिति में वायुवर्द्धक पदार्थो का सेवन विरूद्धाहार है। इसी प्रकार, दिन में सोने से अथवा बहुत अधिक सोने से कफ की अधिकता हो जाती है। ऐसी स्थिति में मधुर ओर भारी कफवर्द्धक पदार्थो का सेवन कफ को ओर अधिक प्रकुपित करेगा, अतः विरूद्धाहार है। अधिक चर्बी वाले व्यक्तियों के लिए स्नेहयुक्त पदार्थो (घी, मक्खन आदि),का सेवन तथा क्षीणकाय व्यक्तियों के लिए रूक्षा व हल्के पदार्थो। का सेवन विरूद्धाहार के अंतर्गत आता है। प्रसव के पश्चात् मॉ में तीनों दोष असन्तुनित अवस्था में पाये जाते हैं। ऐसे समय में गर्म, कटु व विदाही पदार्थो का उपयोग भी विरूद्धाहार ही है।

11. **<u>क्रम की दृष्टि से विरूद्धाहार</u>**:–

स्वास्थ्य की दृष्टि से यह आवश्यक है कि प्रतः नित्यकर्म (मल–मूत्रादि त्याग) के पस्चात् ही भोजनादि का ग्रहण किया जाए। इसी प्रकार, पहले खाये हुए भोजन का पाचन होने के पश्चात् तथा भूख लगने पर ही भोजन करना चाहिए। इन सब नियमों तथा इस प्रकार के अन्य नियमों का उल्लंघन भी विरूद्धाहार ही है। उदाहरणतः मल मूत्र का त्याग किये बिना, भूख लगे बिना तथा पहला खाया भोजन हजम हुए बिना खाना, और अत्यधिक भूख लगने पर भी न

खाना क्रम की दृष्टि से विरूद्धाहार है।

12..परिहार अथवा निषेध(Prohibitions),की दृष्टि से विरूद्धाहारः–

कुछ विशेष खाद्य पदार्थो के दुष्प्रभाव से बचने के लिए उनके सेवन के पश्चात् कुछ अन्य विशेष पदार्थो का सेवन नही करना चाहिए अथवा कुछ का सेवन अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार का आचरण न करना भी विरूद्धाहार है। जैसे–सुअर और उसके समान जानवरों के मॉस के पश्चात् उष्ण पदार्थो का सेवन तथा घी आदि को पीकर ठण्डे पदार्थो का सेवन तथा नही करना चाहिए। इन निषिद्ध पदार्थो का सेवन करना विरूद्धाहार है। इसी प्रकार गेहूँ व जौ से बने पदार्थो के सेवन के पश्चात् ठण्डा पानी पीना चाहिए य भोजन ग्रहण के पश्चात् व्यायाम न करके मनुष्य को आराम से बैठना वाहिए व कुछ समय बाद बाई करवट लेटना चाहिए। इस प्रकार के नियमों को तोड़ना परिहार–विरूद्ध आहार कहलाता है।

13.पाक अथवा निषेध की दृष्टि से विरूद्धाहारः–

दूषित प्रकार के ईधन से पकाया हुआ भोजन तथा ठीक प्रकार से न पकाया गया भोजन अर्थात कच्चा, बहुत अधिक पक्व अथवा जला हुआ अन्न भी विरूद्धाहार है। क्योंकि इस प्रकार का भोजन खाने से रूचिकर भी नहीं होता । यह भोजन मन्दाग्नि, अभिष्यन्द, रूक्षता, आम आदि अपच के विकारों को उत्पन्न कर देता है।

14.संयोग (Combination) की दृष्टि से विरूद्धाहारः–

कुछ विशेष पदार्थो को एक साथ खाने से अथवा आपस में मिलाकर सेवन करने से शरीर पर विषैला प्रभाव पड़ता है। अतः इस प्रकार का भोजन भी विरूद्धाहार है। यथा–खट्टे पदार्थो को दूध के साथ मिलाकर खाना। इसीप्रकार दूध, केला, खजूर व लस्सी में किन्ही दो पदार्थो को मिलाकर सेपन करना भी विरूद्धाहार है। इस प्रकार का भोजन शरीर के स्त्रोतों में अत्यधिक अभिष्यन्द (रूकावट) उत्पन्न कर देता है। मद्य और कृशरा (खिचड़ी) तथा मद्या और खीर भी भी परस्पर विरूद्ध भोजन है। क्योंकि मद्य जहॉ रूक्ष, अम्ल ओर लघु

है, वही खिचड़ी ओर खीर स्निग्ध, मधुर और भारी हैं। अतः विनरीत गुण वाले हैं।

15. **रूचि की दृष्टि से विरूद्धाहारः–**

जो भोजन मन को रूचिकर नही लगता, परन्तु विवश्सतापूर्वक खाया जता है, श्रेणी में आता है। इसी प्रकार, रूचिकर भोजन को भी अरूचि से खाना एक प्रकार का विरूद्धाहार है। इस प्रकार के भोजन से उल्टी, हिच्की, नाक से पानी बहना, सिरदर्द आदि हो सकते है।

.16.द्रव्य के गुणों की दृष्टि से विरूद्धाहारः–

किसी भी द्रव्य का उपयोग तभी तक स्वस्थ्यप्रद है, जब तक वह सभी गुणों व रस से भरपूर हो। अतः जिस पदार्थ मे रस विद्यमान ही न हो अथवा रस उत्पन्न होकर नष्ट हो गया हो अथवा जिसका रस विकृत हो गया हो, उस द्रव्य का सेवन गुणों की दृष्टि से विरूद्धाहार है। इस प्रकार के आहार से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते है।

17.**विधि की दृष्टि से विरूद्धाहारः–**

ग्रन्थों में बताये गये भोजन सम्बन्धी नियमों को का पालन न करना भी विधिविरूद्ध आहार है। जैसे एकान्त स्थान में भोजन न करना, हाथ पैर–मुँह धोए बिना भोजन करना, समय पर भोजन न करना, आदि इस श्रेणी के विरूद्धाहार है। प्रत्येक मनुष्य को सात्म्य, शुद्ध गर्म और स्निग्ध भोजन करना चाहिए तथा भोजन ऐकाग्रता से करना चाहिए। इस प्रकार भोजन व करना भी विरूद्धाहार के अन्तर्गत आता है।

उपर्युक्त सभी प्रकार के विरूद्धाहार का सेवन करने से मनुष्य पपुंसकता, कुष्ठ, आदि अनेकानेक भंयकर रोगों का शिकार हो जाता है। अतः भली प्रकार विचार करके ही भोज्य पदार्थो का सेवन करना चाहिए। जनसाधारण में प्रचलित विरूद्धाहार के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैः–

मछली को दूध के साथ सेवन नही करना चाहिए। ये दोनों ही पदार्थ मधुर रस वाले और महा अभिष्यन्दी है तथा क्रमशः शीत ओर उष्ण वीर्य वाले हैं। अतः इनका सेवन करने से रक्त दूषित होता है। और स्त्रोतों में अवरोध उत्पन्न होता है।

ग्रम्य, आनूप पद तथा जलद पशु पक्षियों का मांस शहद, तिल, गुड़, उड़द, मूली, बिस (कमल नाल) अथवा अंकुरित धान्य के साथ नही खाना चाहिए। क्योंकि

इनके सेवन से बहरापन, अन्धापन, कम्पन, जड़ता, अस्पष्ट, उच्चारण, नाक बोलना जैसे भयंकर विकार तथा मृत्यु तक हो सकती है।

पुष्कर ओर रोहिणी के साग को तथा सरसों के तेल में पकाये गए कबतर के मांस को शदह और दूध के साथ सेवन नहीं करना चाहिए। इसके सेवन से मनुष्य रक्ताभिष्यन्त, धमनी का फेल जाना, अपस्मार, शखक, गलगण्ड तथा रोहिणी में ही किसी एक रोग का अथवा मृत्यु का शिकार हो जाता है।

मूली, लहसुन, सहिजन, तथा तुलसी आदि खाकर दूध नहीं पीना चाहिए। क्योंकि इसके सेवन से कुष्ठ होने का भय रहता है।

जातुक शाक और पके हुए निकुंच या बड़हल, साववबीद्धए को शहद अथवा घी के साथ नही खाना चाहिए। इसके सेवन से बल, वर्ण तेज और वीर्य में कमी आती हैः अथवा कोई भयंकर रोग हो सकता हैः अथवा मृत्यु तक हो सकती है। इस पके हुए निकुच का सेवन उड़द के सूप, गुड़ तथा घी के साथ भी नही करना चाहिए।

आम, आम्रातक या आम्बड़ा, बिजौरा नींबू, निकुच, करमर्द (करौंदा) मोचा (केला),गलगल (दन्तशठ), बेर, कोशाम्र, कमरख, जामुन, कपित्थ (कैथ),तिन्तडीक, पारावत, अखरोट, पनस (कटहल), नारियल, अनार, ऑवला तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थ एवं खट्टे तरल अथवा ठोस पदार्थ दूध के साथ नहीं लेने चाहिए।

इसी प्रकार कंगु (Itallian Millet), वनक (Wind Commin Millet),मोठ, कुलत्थ, उड़द (Lablab), भी दूध के साथ विरोधी पदार्थ हैं।

कुसुम्भ शाक (Pot-Heb), शार्कर प्रकार का मद्य तथा शहद को भी एक साथ मिलकर सेवन नही करना चाहिए, क्योंकि इनके सेवन से वायु अत्यधिक प्रकुपित हो जाती है।

हारिद्रक (Parakeet bird), का मांस सरसों के तेल में भूनकर नही लेना चाहिए, क्योंकि इससे पित्त अत्यधिक प्रकुपित हो जाता है।

मन्थ के अनुपात के साथ पायस (खीर,आदि) का सेवन विरूद्ध है, क्योंकि यह कफ को अत्यधिक प्रकुपित कर देता है।

तिल के कल्फ के साथ उपेदिक (पोई) को पकाकर नहीं खाना चाहिए, क्योंकि इससे अतिसार हो जाता है।

बलाका (ब्तेदज), का मांस वारूणी मद्य और कुल्माष के साथ सेवन नही करना चाहिए। यदि बलाका का मांस सूअर की चर्बी में भूनकर सेवन कर लिया जाए, तो व्यक्ति की एकदम मृत्यु हो जाती है।

मोर का मांस यदि एरण्ड की लकड़ी में पिरोकर भूना जाए, अथवा एरण्ड की लकड़ी की आग में पकाया जाएः अथवा एरण्ड के तेल में पकाया जाए, तो इसका सेवन करने से भी शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

हल्दी की लकड़ी में पिराकर भूना हुआ अथवा हल्दी की लकड़ी की आग पर पकाया हुआ हारिद्रक का मांस भी एकदम मृत्युकारक है। इसी हारिद्रक का मांस यदि राख (भस्म) और धूलि से सना हो और शहद के साथ खाया जाय, तो भी मृत्यु का कारण बनता है।

मछली की चर्बी में पकाई हुई पिप्पली का सेवन करने से तथा मकोय और शहद का इकट्ठे सेवन करने से भी शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

यदि शहद को गर्म करके लिया जाए अथवा गर्मी से पीड़ित मनुष्य शहद का सेवन करे तो भी मृत्यु हो सकती है।

समान मात्रा में शहद और घी लेने से समान मात्रा में शहद और अन्तरिक्ष (वर्षा) का जल मिलाकर लेने सेः शहद और कमल का बीज मिलाकर सेवन करने सेः शहद के पश्चात् गर्म जल पीने से भिलावा और गर्म जल एक साथ लेने से छाछ में पकाया कमीला बासी रखा हुआ मकोय तथा अंगारों पर शूल से भूना हुआ भास पक्षी का मांस खाने से अनेक प्रकार के घतक रोग हो सकते हैं। क्योंकि ये सब विरूद्धाहार के अन्तर्गत आते है।

इस प्रकार शरीर की धातुओं से प्रतिकूल गुण वाले भोज्य पदार्थ शरीर के रस, रक्त आदि धातुओं को दूषित अथवा असंतुलति करके अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं।

पथ्याहार(Wholesome Diet)महत्वः–

प्रारम्भिक अध्यायों में आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए ब्रहाण्ड की पंचमहाभौतिक संरचना के साथ–साथ औषधियों की पंचभौतिक संरचना का भी उल्लेख किया गया है। इसके आधार पर ही औषधियों एवं आहार के गुणों, वीर्य,प्रभाव तथा रसों का उल्लेख किया गया है। आयुर्वेदीय पद्धति के अनुसार रोगी की चिकित्सा करते हुए एक बैद्य औषधियों की पंचभौतिक संरचना के महत्व की उपेक्षा नही सकता । क्योंकि इस चिकित्सा शास्त्र के अनुसार, रोगोत्पत्ति का मूलभूत कारण वायु, पित्त एवं कफ दोसों, रस रक्तादि साद धातुओं एवं मल आदि की मात्रा में असन्तुलन अर्थात वृद्धि, क्षय एवं प्रकोप होना है। और इन रोगों की चिकित्सा के लिए तथा स्वास्थ्य के रक्षण के लिए आयुर्वेद में उचित जीवन–चर्चा

तथा पथ्य–आहार का आश्रय लिया जाता है। जीवन–चर्या का प्रमुख आधार भी आहार द्रव्य ही है। आहार–द्रव्यों के पथ्य व अपथ्य का निर्णय उनके गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव आदि के आधार पर किया जाता है। और ये गुणादि तत्व रस के आधार पर ही निर्धारित होते है अतः रसों का झान होना अत्यावश्यक है। इसी को लक्ष्य में रखकर, मधुरादि छः रसों का शरीर पर क्या प्रभाव होता है तथा उनके अति प्रयोग से किस प्रकार के दुष्प्रभाव हो सकते है, आदि का उल्लेख भी किया गया है। यही कारण है कि यदि इन रसों का पृथक्–पृथक् एवं समिलित रूप से सम मात्रा में सेवन किया जाय तो शरीर के दोष, धातु आदि भी समावस्था में रहते है। परिणामतः आरोग्य स्थिर रहता है। अन्यथा इनके आतियोग, आयोग तथा मिथ्यायोग से दोषादि प्रकुपित होकर शरीर के रोगों का कारण बनते है।

केवल स्वास्थ्य की रक्षा के लिए ही नही, अपितु रोगों के प्रतिकार एवं उनकी चिकित्सा के लिए भी उचित अथवा पथ्य आहार का झान व उपयोग है। क्योंकि रोगी में वैद्य को सर्वप्रथम यह निर्णय करना होता है कि उसमें किस दोष की वृद्धि है, किस दोष की क्षीणता ओर किस दोष की समता है। तत्पश्चात् उन दोषों के अनुपात का अर्थात् प्रकुपित का दोष में कौन सा गुण एवं कर्म वृद्धि को प्राप्त हुआ है तथा कौन सा सम है? इसी प्रकार क्षीण दोषों में भी गुण कर्म की क्षीणता का तथा सम दोषों में गुण कर्म की समता का निश्चय करना होता है। इसके साथ यह देखना भी आवश्यक है कि से क्षीण या वृद्ध गुंण कर्म कितने अंश तक वृद्ध या क्षीण है? इस प्रकार रोग के संदर्भ में, रोग के कारणभूत दोषों का झान प्राप्त करके वैद्य रोगी की चिकित्सा पथ्यहार के द्वारा सफल रूप में कर सकता है। जो दोष अथवा उसके गुण–कर्म वृद्ध (बढ़ी हुई)अवस्था में हैं, उन्हें कौन सा रस विरोधी होने के कारण क्षीण कर सकता है? तथा वह रस किस आहार द्रव्य में पया जाता है? इसी प्रकार, जो दोष अथवा उसके गुण कर्म क्षीर्ण (कम) अवस्था में हैं, कौन सा रस समान गुण होने के कारण उनमें वृद्धि करके सम अवस्था में लाया जा सकता है? तथा यह रस किस आहार और औषध द्रव्यों का चयन करता है। तत्पश्चात् उन्ही का सेवन करके रोगी रोगमुक्त हो सकता है। ये उपयोगी रस कभी एक ही आहार द्रव्य में पाया जाता है। तथा कभी भिन्न–भिन्न रसों वाले अनेक द्रव्यों का संयोग करके भी उनका सेवन कराया जा सकता है। इस प्रकार, दोषों के गुण कर्मो की क्षीणता व वृद्धि के आधार पर उस दोष के समान व विरोधी धर्मी आहार का निर्णय करके वैद्य सरतापूर्वक रोगी की चिकित्सा कर लेता है।

यही कारण है कि पौष्टिक या सन्तुलित अहार अर्थात (आयुर्वेदीय भाषा

में)हितकर और रूचिकर वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले आहार का यदि विधिपूर्वक सेवन किया जाए, तो इससे शरीर के दोष, धातु, उपधातु और मल की पुष्टि होती है। वरिणामतः व्यक्ति बलवान, हष्ट–पुष्ट तथा उसकी इन्द्रियॉ अपने कार्य करने में समर्थ होती है। उसकी स्मृति, बुद्धि, वर्ण, ओज, जाठराग्नि तथा मनोबल में वृद्धि होती हैं। अर्थात वह व्यक्ति पूर्णतः आरोग्यवान या स्वस्थ रहता है। इसके विपरीत, अहितकर (अपथ्य) अथवा विषम अन्न या आहार का सेवन करने से प्रकुपित दोष, धातु आदि और अधिक वृद्धि को प्राप्त होकर, तथा क्षीण दोष, धातु आदि और अधिक क्षीण होकर अनेक रोगों की उत्पति करते हैं। क्योंकि शरीर जिन तत्वों, द्रव्यों व भूतों से बना है। शरीर की चपापचाय आदि क्रियाओं एवं अन्य कारणों से उनका निरन्तर क्षय होता रहता है। इनकी पूर्ति उन महाभूतों एवं गुणों से युक्त (आधुनिक भाषा के आनसार, प्रोटीन, विटामिन, कार्बोहाइड्रेट्स, आदि) आहार का सेवन करने से ही हो सकती है। यदि शरीर को इस प्रकार का उचित आहार न मिले तो शरीर के धातु, पित्त, कफ आदि क्षीण हो जाती हैं तथा वायु का प्रकोप हो जाता है इससे बल, वर्ण व पुष्टि का क्षय होने लगता है तथा मन बुद्धि, शरीर और इनिद्रयॉ अपना कार्य करने में असमर्थ होने लगते है शरीर में ओज,शुक्र तथा आयु में भी कमी होने लगती है। उदावर्त (वायु की विपरीत गति) होने लगता है। अस्सी प्रकार के वात रोगों का मूल पथ्य आहार की कमी है। इसके विपरीत, अत्यधिक आहार करने से सभी दोष, धातु आदि प्रकुपित होने लगते है स्पष्टतः आहार की उचित मात्रा के साथ–साथ उसमें दोषों के अनुरूप रस, गुण आदि भी होने चाहिए।

यही कारण है कि आयुर्वेद में आहार–द्रव्यों का श्रेणीकरण आधुनिक चिकित्सा शास्त्र से एकदम भिन्न रूप में किया गया है। जहॉ आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार आहार–द्रव्यों के विभाजन का आधार प्रमुखतः कार्बोहाइड्रेट्स, विटामिन, प्रोटीन, वसा, खनिज–द्रव्य आदि है। वहॉ आयुर्वेद में आहार–द्रव्यों का विभाजन उनके रस, वीर्य, प्रभाव आदि तत्वों के आधार पर किया गया है। उदाहरण के तौर पर, कार्बोहाइड्रेट्स के आधार पर सभी प्रकार के चावलों को एक ही श्रेणी में बॉटा जा सकता हैं। परन्तु आयुर्वेद में जहॉ नये चावलों को पाचन में भारी और कफवर्द्धक माना गया है, वहीं पुराने चावल (6 महीनों से अधिक पुराने) पाचन में हल्के तथा अधिक लाभकारी माने गये हैं। नये चावल कफवर्द्धक और भारी होने के कारण शरीर में अनेक जटिलताएँ उत्पन्न कर सकते है। ये पुराने चावलों की अपेक्षा अधिक चर्बी उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि एक दुबले–पतले परन्तु तीव्र पाचन शक्ति वाले व्यक्ति के लिए नये चावल अधिक पोषक हैं, परन्तु एक मोटे

और सामान्य पाचन–शक्ति अथवा मन्दाग्नि वाले व्यक्ति के लिए पुराने चावल ही पोषक हो सकते है।

चावल के तीन प्रकार– शालि, षष्टिक एवं व्रीहि – माने गये हैं आधुनिक विज्ञान के आनुसार (वनस्पति शास्त्र की भाषा में– (Botanically) तीनों का नाम 'ओराइजा सैटिवा लिन' (Oryza sativa Linn) ही हैः और ये एक ही जाति व परिवार के माने जाते हैं। जबकि आयुर्वेद के आनुसार इनकी पौष्टिकता एवं गुणों में बहुत अन्तर पाया जाता है। जहॉ शालि और षष्टिक धान दोषों का शमन करते व उन्हें साम्यावास्था में लाते है, वही व्रीहि प्रकार का धान सभी दोषों को प्रकुपित करता है।

इसी तरह बहुत से आहार–द्रव्य ऐसे है, जिनमें स्टार्च अथवा माण्ड (जंतबी) तत्व तो पाया जाता है,। परन्तु वे शरीर में चर्बी बढ़ाने के स्थान पर उसे घटाते हैं।

दालों के बारे मे भी आयुर्वेदीय और आधुनिक विचारधारा में मतभेद है। आधुनिक विचार के अनसार सभी दालों में प्रटीन तत्व पाया जाता है। परन्तु आयुर्वेद के अनुसार ,उड़द अथवा माष पचनें में बहुत भारी है और शरीर में अधिक चर्बी उत्पन्न करती है, जबकि मूंग पचने में हल्की है और शरीर मे चर्बी कम करती है। इसकी विपरीत कुलत्थ अथवा कुलथी हल्की होते हुए भी बहुत पौष्टिक है।

इन सभी उपरोक्त कारणों से रोगी के आहार के चयन को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। सभी रोगों के लिए पथ्य एवं अपथ्य आहार का निर्देश किया जाता है।

सारांश –

इस इकाई में आप जीवन के मुख्य आहार एवं पोषक तत्व के विषय में अध्ययन किये।

- आहार में उपस्थित पोषक तत्वों का नाम ।

इकाई – 6 (चिकित्सा विज्ञान)

इकाई की रूपरेखा –

1. उद्धेश्य।
2. प्रस्तावना।
3. विषय वस्तु–
    - चिकित्सा की परिभाषा एवं व्याख्या।
    - चिकित्सा का चतुष्पाद परिचय।
    - चिकित्सा के भेद।
    - चिकित्सा भेदों का संक्षिप्त परिचय।
4. सारांश।
5. अभ्यास प्रश्न।

उद्देश्य – इस इकाई में हम आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र के अनुसार चिकित्सा की परिभाषा, चतुष्पाद आदि के विषय में अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- चिकित्सा शब्द का अर्थ समझ सकेंगे एवं व्याख्या कर सकेंगे।
- आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र के भेदों से परिचित होगें।

प्रस्तावना :– आयुर्वेद प्रबोध पाठ्यक्रम का यह चतुर्थ प्रश्न पत्र की पहली इकाई है। आप ने इसके पूर्व आयुर्वेद का अवरतण, अष्टांग आयुर्वेद परिचय, आयुर्वेद का त्रिदोष सिद्धांत, धातु, उपधातु, मल विवेचन, शरीर, षडंगशरीर, अग्नि, स्त्रोतस, शिरा, धमनी, ओजादि का संक्षिप्त परिचय त्वचा, कला, अस्थि आदि अवयवों का परिचय एवं स्वस्थवृत परिचय का प्रथम प्रश्न पत्र में अध्ययन कर लिया है।

द्वितीय प्रश्न पत्र में संहिताओं का नाम वर्गीकरण, संहिताओं का परिचय एवं विशेषता सहित वनस्पति औषधि द्रव्य, जांगम औषधि द्रव्य, खनिज औषधि द्रव्यों का परिचय एवं प्रयोग इन औषधियों के विभिन्न कल्पना का अध्ययन किया।

तृतीय इकाई में व्याधि परिचय, रोगोत्पत्ति कारण, षट्क्रिया काल, पंच निदान, अष्टविध् द्विविध्, त्रिविध् चतुर्विध, पंचविध रोगी परीक्षा, रोगी की नाड़ी एवं मल मूत्रादि परीक्षा तथा आहार जैसे महत्वपूर्ण विषयों का
अध्ययन किया, इन्हीं विषयों के अंतिम क्रिया चिकित्सा के अंतर्गत चिकित्सा का अर्थ उसके परिभाषिक व्याख्या को समझेंगे। मानुषी आसुरी देवी आदि चिकित्सा का परिचय प्राप्त करेंगे। महर्षि आत्रेय के अनुसार दैवव्यापाश्रय आदि सभी चिकित्सा भेदों का परिचय वर्णित है। साध्य असाध्यता भेद से रोगों के भेद लिखें गये है साथ ही चिकित्सा की काल मर्यादा चिकित्सा का प्रयोजन महिमा का उल्लेख है। त्रिदोषों की चिकित्सा सिद्धांतों का वर्णन है। इस तरह यह इकाई विभिन्न जिज्ञाषाओं को शांत कर छात्र को आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र का संक्षिप्त दर्शन करायेगा।

विषय वस्तु

चिकित्सा की परिभाषा

पर्याय – चिकित्सा के पर्याय प्राचीन ग्रंथों मे अनेक मिलता है जैसे क्रियाकर्म, प्रतिकर्म, वैद्य कर्म, वर्गकर्म प्रतिषेध प्रतिकार, प्रशमन उपक्रम, उपचार इत्यादि।

1. रोग के दूरीकरण को चिकित्सा कहते है।

2. वैद्य, औषध, परिचारक या सेवा करने वाला और रोगी आदि चारों आवश्यक अंगों के उत्तम रहने पर, शारीरिक धातुओं के विकृत हो जाने पर धातु साम्यता के लिए जो प्रवृत्ति होती है उसे चिकित्सा कहते है।

3. जिस क्रिया के द्वारा शरीर में दोष की विकृत अवस्था को प्राकृत करते हैं तथा धातु की साम्य अवस्था प्राप्त करते है, उसे चिकित्सा कहते है।

4. शरीर दोषों या धातुओं की विकृति (क्षय या वृद्धि) ही रोग कहलाता है। और उसका सम अवस्था में रहना आरोग्य कहलाता है। अर्थात रोग की अवस्था में विषमता को प्राप्त हुए दोष एवं धातुओं को साम्यावस्था में लाने के लिए की जाने वाली क्रिया चिकित्सा कहलाती है।

5. व्याधि या रोग का उचित ज्ञान कराना, वेदना या कष्ट को दूर करना चिकित्सा है।

6. जिस क्रिया के द्वारा रोग का नाश एवं शरीर को धारण करने वाले वात–पित्त कफ, रस–रक्त आदि धातु तथा रज–तम आदि मानस दोषों के अस्वास्थ्यकर या वैषम्यता को दूर किया जाता हैं, इन्हें सम एवं स्वास्थ्यकर प्रमाण में लाकर धातुसाम्यत्व की स्थापना करता है। एवं रोग का अपनयन हो उसे चिकित्सा कहते है।

7. जिन क्रियाओं के द्वारा शरीर में विषम बने दोष, धातु मल अपने वैषम्यता को छोड़कर नियत सम प्रमाण में आ जाये उसे चिकित्सा कहते हैं, एवं रोग हो जाने की स्थिति में विषम बने हुए दोष तथा ध ातुओं को साम्यावस्था में लाने के लिए किये जाने वाली क्रिया चिकित्सा कहलाती हैं।

8. शरीर की धातुएँ जब विकृत होकर रोग उत्पन्न कर चुकी हो तो ध ाातु वैषम्यता को दूर कर, धातुसाम्यता आरोग्य स्थापना के लिए अपने–अपने गुणों से युक्त प्रशस्त वैद्य, औषध, प्रशस्त परिचारक और प्रशस्त रोगी की

जो प्रवृत्ति होती है, उसे चिकित्सा कहते है।

उत्तम और दोषरहित चिकित्सा – (1) गुणवान वैद्य (2) गुणवान द्रव्य (3) गुणवान उपास्थाता (4) गुणवान रोगी

ये चार चिकित्सा के चार पादों कहे गये है। जिसमें सबसे प्रधान वैद्य, फिर औषध, परिचारक और रोगी होता है। पुनः इन चारों के चार गुण होते है।

वैद्य के गुण :–

(1) शास्त्र का अच्छी प्रकार ज्ञान रखता हो।

2 अनके बार रोगी परीक्षा औषध, निर्माण, औषध प्रयोग कर चुका हो।

3. समय के अनुसार औषध व्यवस्था या रोगी चिकित्सा करने में सक्षम हो।

4. केश, नख, कटे हो स्वच्छ वस्त्र धारण करता हो या पवित्र रहता हौ ये वैद्य के उत्तम गुण है।

(2) **उत्तम औषधि के गुण** :–

1. औषधियों का अधिक मात्रा में प्राप्त होना।

2. औषधियों का व्याधिनाश में समर्थ होना।

3. एक ही औषधि से अनेक विघ कल्पना या क्वार्थ चूर्ण, वटी, अवलेह, अरिष्ट बनाया जा सके ।

4. औषधियों का अपने रस गुण, वीर्य, विपाक आदि गुणों से युक्त हो।

(3) उत्तम परिचारक का गुण :–

1. सेवा कार्य का पूर्ण ज्ञान हो।

2. चतुर हो।

3. पवित्रता हो

4. अपने मालिक (रोगी) के प्रति प्रेम हेा, वफादार ाहे।

जो प्रवृत्ति होती है, उसे चिकित्सा कहते है।

उत्तम और दोषरहित चिकित्सा – (1) गुणवान वैद्य (2) गुणवान द्रव्य (3) गुणवान उपास्थाता (4) गुणवान रोगी।

ये चार चिकित्सा के चार पादों कहे गये है। जिसमें सबसे प्रधान वैद्य, फिर औषध, परिचारक और रोगी होता है। पुनः इन चारों के चार गुण होते है।

(1) **वैद्य के गुण**

(i) शस्त्र का अच्छी प्रकार ज्ञान रखता हो।

(ii) अनेक बार रोगी परीक्षा, औषध निर्माण, औषध प्रयोग कर चुका हो।

(iii) समय के अनुसार औषध व्यवस्था या रोगी चिकित्सा करने में सक्षम हो।

(iv) केश, नख कटे हो, स्वच्छ वस्त्र धारण करता हो या पवित्र रहता हो। ये वैद्य के उत्तम गुण है।

(2) **उत्तम औषधि के गुण** –

(i) औषधियों का अधिक मात्रा मे प्राप्त होना।

(ii) औषधियों का व्याधिनाश में समर्थ होना।

(iii) एक ही औषधि से अनेक विध कल्पना या क्वाथ चूर्ण, वटी, अवलेह, आसव, अरिष्ट बनाया जा सके।

(iv) औषधियों का अपने रस, गुण, वीर्य, विपाक आदि गुणों से युक्त हों।

(3) **उत्तम परिचारक का गुण** –

(i) सेवा कार्य का पूर्ण ज्ञान हो।

(ii) चतुर हो।

(iii) अपने मालिक रोगी के प्रति प्रेम हो वफादार हो।

(iv) पवित्रता

इन चार गुणों से युक्त परिचारक उत्तम होता है।

(4) **उत्तम रोगी के गुण** –

(i) **स्मरण शक्ति** – अर्थात रोगी को याद रहना चाहिए कि वह किन कारणों से रोग ग्रस्त हुआ।ताकि वह उन कारणों का परित्याग कर सके।

(ii) वैद्य की आज्ञाओं का पालन करने वाला हों। अर्थात वैद्य जिस पथ्य अपथ्य के बारे में निर्देश दें या जो भी रोगी के हित में निर्देश दे उसका पालन करने को हमेशा तैयार रहे।

(iii) **निर्भयता** – किसी प्रकार का भय मन में न रखें यदि शल्य चिकित्सा हो तो भी भयभीत न रहे।

(iv) रोग एवं उपद्रवों को अच्छी प्रकार बता सके, अर्थात अपने कष्ट और उसके कारण उत्पन्न अन्य कष्टों का स्थान, प्रकार का स्पष्ट जानकारी चिकित्सक को दे सके।

उपरोक्त चिकित्सा के चारों पादों का उत्तम संयोग से गंभीर से गंभीर व्याधि का समूल नाश होता है।

चिकित्सक की प्रधानता – सोलह गुणों से युक्त चिकित्सा के चारों पाद किसी भी रोग की चिकित्सा को सफल बनाने में महत्वपूर्ण कारण होता है। इन चारों पादों में औषध का उत्तम ज्ञान रखने वाला, परिचारक पर शासन करने वाला, रोगी में रोगानुसार उत्तम औषधि का प्रयोग करने वाला केवल वैद्य होता है अतः चारों पादों में वैद्य ही प्रधान माना गया है। अतः प्राणों की रक्षा करने वाले वैद्य को प्राणाभिसर वैद्य कहते है। जो शास्त्र के अध्ययन में तत्पर रहता हो, शास्त्र के अर्थ को समझता हो, प्रत्यक्ष कर्म का बार बार अभ्यास किया हो, यह प्राणभिसर वैघ का लक्षण है।

उत्तम वैद्य के गुण – छः गुण होते है।

(1) विद्या (2) वितर्क (3) विज्ञान (4) स्मृति (5) तत्परता (6) क्रिया।

अर्थात वैद्य को चिकित्सा शास्त्र का पूर्ण ज्ञान हो। अपने विषय पर तर्क कर सकें। चिकित्सा विज्ञान का प्रत्यक्ष प्रयोग किया हो या चिकित्सा कर्मो का अभ्यास हो। चिकित्सा कार्य में सिद्धी प्राप्त हो, श्रेष्ठ गुरूजनों से शिक्षित हो या लगातार सम्पर्क में हो। नये नये चिकित्सा कर्म के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहे।

इसके अतिरिक्त चिकित्सक में निम्न चार वृतियाँ होनी चाहिए।

(1) मैत्री – प्राणीमात्र के साथ मित्रता का व्यवहार हो।

(2) आर्तेषुकारूणम – रोगी के प्रति दया का भाव हो।

(3) शक्ये प्रीतिः – साध्य रोगों का प्रेम पूर्वक चिकित्सा करना।

(4) असाध्य रोगी या रोग में उपेक्षा का भाव रखना।

आचार्य चरक से मूर्ख वैद्य से चिकित्सा न करने की बात कही है। अपने आत्मा को अग्नि में हवन करना अच्छा है परंतु अज्ञानी वैद्य से चिकित्सा कराना अच्छा नहीं है। क्योकि मूर्ख वैद्य की चिकित्सा से कोई भाग्यवान व्यक्ति ही बच पाता है। अन्यथा मृत्यु निश्चित है।

जो चिकित्सक उत्पन्न हुए रोग का शमन करें, किन्तु किसी दूसरे रोग को उत्पन्न न करें, वही उत्तम चिकित्सा है। इसके विपरीत जो चिकित्सक किसी रोग को तो

शांत करें, किन्तु दूसरे रेाग को उत्पन्न कर दें वह चिकित्सा उत्तम नहीं है।

चिकित्सा के भेद या प्रकार –

चिकित्सा के प्रकार भी असंख्य है, जैसे कि रेाग असंख्य है। किन्तु शास्त्रकारों ने चिकित्सा के जिन प्रकारों का युक्तियुक्त ढंग से उल्लेख किया है। वे ही आध ाारभूत है, जिनके धरातल पर अनेक तरह की चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है।

एकविध चिकित्सा –

निदानपरिवर्जन या पथ्यसेवन –(क)जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ हो, उन कारणों का परित्याग करना चिकित्सा का एक प्रकार है। (ख) रोग के अनुसार पथ्यसेवन चिकित्सा का सूत्र है।

द्विविध चिकित्सा के प्रकार –

1– शीत	2 – उष्ण
1– संतर्पण (बृहंण)	2– अपतर्पण (लंघन)
1– शोधन	2– शमन
1– ऊर्जस्कर	2– रोगघ्न
1– रसायन	2– बाजीकरण
1– रोगप्रशमन	2– अपुनर्भवकर
1– द्रव्यभूत	2– अद्रव्यभूत

त्रिविध चिकित्सा –

1. दैवव्यपाश्रय, 2. युक्तिव्यपाश्रय 3. सत्वावजय

दैवव्यपाश्रय में मंत्र जप औषध–धारण, मणि–धारण मंगल–पाठस्तुति देवदर्शन और तीर्थयात्रा आदि का विधान है। रोगी के दोष आदि का विचार कर तद्नुसार औषध –योजना बनाना युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा है और अहितकर विषयों से मन को हटाना सत्वावजय चिकित्सा है।

त्रिविध चिकित्सा –

1– दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय सत्वावजय
2– अन्तः परिमार्जन बर्हिपरिमार्जन, शस्त्रप्रणिधान
3– आसुरी मानुषी दैवी
4– भौम, औद्भिद, जांगम
5– अपकर्षण, प्रकृतिविद्यात निदान परित्याग

6– हेतु विपरीत, व्याधिविपरीत उभयविपरीत

7– लंघन, पाचन, दोषावसेचन,

पंचविध चिकित्सा – **1**. वमन 2. विरेचन 3. वस्ति 4. नस्य 5. रक्तमोक्षण

षष्ठविध चिकित्सा – 1. लंघन 2. बृहंण 3. रूक्षण 4. स्नेहन 5. स्वेदन 6. स्तम्भन

सप्त विध चिकित्सा – 1. पाचन 2. दीपन 3. क्षुधा 4. नस्य 5. धूप सेवन 6 व्यायाम 7. वायु सेवन

दशविध चिकित्सा – 1. वमन 2. विरेचन 3. निरूह 4. नस्य 5. पिपासा 6. वायु सेवन 7. धूप सेवन 8. पाचन 9. उपवास 10 व्यायाम

एक विध चिकित्सा व्याख्या –

निदान परिवर्जनम या पथ्य सेवन –

(अ) जिस कारणों से शरीर गत दोष धातु मल आदि विकृत हुआ एवं रोग उत्पन्न हुआ। उन कारणों का परित्याग करना निदान परिवर्जन कहलाता है।

(ब) रोग के अनुसार पथ्य सेवन अर्थात कफज ज्वर में उष्ण आहार–विहार का सेवन करना।

द्विविध चिकित्सा की व्याख्या –

इसके अंतर्गत निम्न विषयों का समावेश होता है । जैसे –

1. शीत एवं उष्ण चिकित्सा – शीत से उत्पन्न रोग में उष्ण द्रव्यों से चिकित्सा एवं उष्ण से उत्पन्न रोग में शीत

चिकित्सा जैसे :–

I – अधिक ठंडी वस्तु सेवन से प्रकुपित वात् रोग में उष्ण स्वेदन या शुन्ठी आदि उष्ण द्रव्यों द्वारा वात का शमन

II – उष्ण, पदार्थ (गरम मसाला, मदिरा) धूप, ग्रीष्म ऋतु में प्रकुपित पित्त को शीत वीर्य की औषधि शीतल वायु

शीत जगह रखना आदि उपक्रम ।

2. संतर्पण एवं अपतर्पण चिकित्सा– अर्थात दोषधातु मलों की वृद्धि जन्य रोगों में अपतर्पण या दोषों धातुमलों का क्षय करना एवं क्षय जन्य व्याधि में संतर्पण या वृद्धि करना। जैसे अतिव्यायाम से उत्पन्न वायु में स्नेहन जैसी संतर्पण चिकित्सा करना, एवं अतिस्नेहित कफ जन्य व्याधि में रूक्षण स्वेदन जैसी अपतर्पण चिकित्सा करना।

3. शोधन एवं शमन चिकित्सा – अर्थात बढ़े हुये दोषों को बाहर निकालकर शोधन कर्म करना एवं बढ़े हुये दोषों को शरीर के अंदर ही शांत करना।

4. ऊर्जस्कर एवं रोगघ्न – अर्थात् दोनों ही चिकित्सा में शरीर में धातुओं की पुष्टि कर बल एवं रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाना। अतः शरीर बलवान होने से कमजोर रोग शांत हो जाता है।

5. रसायन एवं बाजीकरण – अर्थात दोनों ही चिकित्सा में शरीर में धातुओं की पुष्टी कर, बल एवं रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाना । अतः शरीर बलवान होने से कमजोर रोग शांत हो जाता है।

6. रोग प्रशमन एवं अपुनर्भवकर – अर्थात रोग शांत करना एवं पुनः उत्पन्न न हो ऐसी व्यवस्था करना। जैसे विभिन्न संक्रामक रोगों की चिकित्सा एवं टीकाकरण।

7. द्रव्य भूत एवं अद्रव्यभूत – अर्थात वनस्पति, खनिज औषधि द्रव्यों के द्वारा शोधन एवं शमन चिकित्सा या मत्र, पूजा बलि आदि के द्वारा चिकित्सा करना।

त्रिविध चिकित्सा व्याख्या –

चिकित्सा के मुख्य तीन भेदों की व्याख्या करेंगे। जिसके अंतर्गत समस्त चिकित्सा भेदों का समावेश हो जाता है।

1. **दैवव्यापाश्रय चिकित्सा** – मंत्र, औषधि मणिधारण, मंगल कर्म, बलिकर्म, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित उपवास, स्थान परिवर्तन आदि के द्वारा की जाने वाली चिकित्सा इसे आदि दैविक चिकित्सा भी कहते है।

2. **युक्ति व्यापाश्रय चिकित्सा**– आहार विहार, औषधि द्रव्यों की विभिन्न योजनाएं जैसे क्वाथ, चूर्ण, गुटिका अवलेह, रस भस्म, संशोधन तथा शमन आदि विविध, आदि भौतिक उपाय को युक्ति व्यापाश्रय चिकित्सा कहते है।

3. **सत्वाजय** – इस चिकित्सा में शुद्ध आध्यात्मिक तत्वों का प्रयोग होता है। जिसमें अहित विषयों से मन का रोकना प्रधान कर्म होता है।

(ब) **इसी तरह अन्य भेद में –**

1. **आसुरी चिकित्सा** – शल्य कर्म के द्वारा यंत्र, क्षार, अग्नि के द्वारा जो चिकित्सा की जाती है उसे आसुरी चिकित्सा कहते है।

2. **मानुषी चिकित्सा**– वनस्पति द्रव्यों के विविध कल्पना जैसे क्वाथ, चूर्ण आसव ,आरिष्ट वटी, से की जाने वाली चिकित्सा को मानुषी चिकित्सा कहते है।

3. **दैवी चिकित्सा** – खनिज द्रव्य से निर्मित रस, भस्म से की जाने वाली चिकित्सा को दैवी चिकित्सा कहते है

इस तरह आचार्यो ने कहा है कि आसुरी से मानुषी और मानुषी से दैवी

चिकित्सा श्रेष्ठ होती है।

(स) **अन्य भेद** :–

1. अन्तः परिमार्जन।

2. बर्हिपरिर्माजन।

3. शस्त्र प्राणिधान ।

1. अंतः परिमार्जन – रोगोत्पादक प्रकुपित दोषों को शरीर के अंदर ही शांत करना।

2. बर्हिपरिमार्जन – बढ़े हुये दोषों को शोधन कर्म द्वारा शरीर से बाहर निकाल कर रोग को शांत करना।

3. शस्त्र प्राणिधान – शस्त्र या शल्य कर्म द्वारा रोग को शरीर से बाहर निकालना।

(द) **अन्य भेद से** :–

1. भौम 2. औदभिद् 3. जांगम

अर्थात (1) भौम – खनिज द्रव्यों से चिकित्सा ।

(ध) अन्य भेद से –

I अपकर्षण – कृमि एवं कुपित दोषों को खीच कर निकालना

II प्रकृति विघात – रोगों के प्रकृति के विरूद्ध चिकित्सा।

III निदान परिवर्जन – रोगों उत्पादक कारणों का त्याग करना।

IV इसी तरह पंच विध, षड्विध, सप्तविध चिकित्सा, पंचकर्म तथा अपतर्पण एवं संतर्पण चिकित्सा के अंतर्गत आता है।

उपशय भेद से –

1. हेतु विपरीत – जो औषधि आहार और विहार रोगकारक हेतु से विपरीत प्रकृति के होने के कारण रोग का नाश करते है। उसे हेतुविपरीत उपशय कहते हैं, जैसे श्रम से उत्पन्न व्याधि में द्राक्षादि दश महाकषाय का सेवन।

(अ) हेतुविपरीत औषध : शीत से होने वाले कफज ज्वर में शुण्ठी आदि उष्ण द्रव्य का सेवन।

(ब) हेतुविपरीत आहारः दिन में सोने से हुई कफवृद्धि तथा तजन्य ज्वर में रात्रि जागरण में हेतुविपरीत विहार के उदाहरण है।

2. **व्याधि विपरीत** :– जो औषध आहार या विहार हो या न हो, परन्तु अपने प्रभाव से व्याधि का शमन करे, उसे व्याधि विपरीत उपशय कहते है। जैसे अतिसार में पाठा, कुष्ठ में खदीर प्रमेह में हिंल्दी तथा दमा में सोम का प्रयोग अतिसार में

स्तंभन गुण से युक्त मसूर का यूष एवं उदावर्त में प्रवाहरण उल्टी के लिए जोर लगाना) ये क्रमशः व्याधिविपरीत औषध आहार व विहार के उदाहरण है।

3. **हेतु व्याधि विपरीत** – जो औषध आहार या विहार अपने गुण कर्म प्रभाव, संरचना आदि से हेतु (कारण) और व्याधि रोग दोनो के ही विपरीत होने से रोग का शमन करे, उसे व्याधि विपरीत उपशय कहते है। यथा रूक्ष और शीत गुणों के कारण प्रकुपित वायु से उत्पन्न शोथ में वात और शोध से विपरीत गुणवाले दशमूल क सेवन शीत से प्रकुपित वायु से उत्पन्न ज्वर में उष्ण गुण वाले तथा ज्वरघ्न यवागू का सेवन तथा स्निग्ध पदार्थो के सेवन दिन से सोने के कारण उत्पन्न हुई कफ वृद्धि और उससे उत्पन्न तन्द्रा में रात्रि जागरण जो रूक्ष है तथा तन्द्रा के विपरीत गुण वाला है–ये तीनों क्रमशः हेतु व्याधि विपरीत औषधः आहार व विहार के उदाहरण है।

4. **हेतु विपरीतार्थकारि** :– जो औषध आहार या विहार व्याधि के समान गुण कर्म वाले प्रतीत हों,अपने प्रभाव से रोग का शमन करते हैं। उसे हेतु विपरीततार्थकारि उपशय कहते है।यथा– कटु पदार्थो के अत्यधिक सेवन से उत्पन्न शुक्रक्षय में पिप्पली, शुण्ठी आदि कटुरस से उत्पन्न पुराने यव और गेहूँ जैसे रूक्ष अन्न का सेवन, वातज उन्माद में डराना ये क्रमशः हेतु विपरीतार्थकारि औषधि अन्न व विहार के उदारहण है।

5. **व्याधि विपरीतार्थकारि** :– जो औषध आहार या विहार व्याधि के समान गुण कर्म वाले प्रतीत हों, परन्तु अपने प्रभाव से रोग का शमन करें वे इस श्रेणी के अंतर्गत आते हैं यथा वमन में वमनकारक मदनफल का सेवन : अतिसार में विरेचक दूध का सेवन, तथा वमन द्वारा ठीक होने योग्य रोगी में प्रवाहरण या उल्टी करने के लिये जोर लगाना ये क्रमशः व्याधि विपरीतार्थकारि औषध अन्न विहार के उदाहरण है।

6 **हेतु व्याधि विपरीतार्थकारि** :– जो औषध रोग का कारण और व्याधि के समान होते हुए भी अपना प्रभाव व्यक्त करते हैं, वे इस श्रेणी में आते हैं। यथा अग्नि से जल जाने पर दाह में अगुरू आदि का लेप करना, अतिव्यायाम से उत्पन्न मुढ़वात में पानी में तैराना, ये तीनों क्रमशः हेतु, व्याधि विपरीतार्थकारी औषध, अन्न, विहार के उदारण है। इन सबका एक मात्र उद्धेश्य रोग का शमन करना ही है।

चिकित्सा के सामान्य आधारभूत –

समान गुण, प्रकृति संरचना वीर्य और प्रभाव वाले औषधीय द्रव्यों वस्तुओं आहार अथवा विहार सोना जागना, चलना घुमना) के प्रयोग से दोष धातु मल

में वृद्धि होती है जबकि विपरीत गुण आदि से युक्त पदार्थो के प्रयोग से दोष आदि न्युन क्षीण होते है।

1. जिस रोग का नाम व हेतु अज्ञात हो, उसकी चिकित्सा रोगी में प्रकुपित दोषों के विपरीत करना चाहिए।

2. चिकित्सा से पूर्व चिकित्सक को यह निश्चित कर लेना चाहिए कि रोग साध्य है, कष्ट साध्य या कठिनाई से ठीक होने वाला, याप्य जो पूरी तरह से ठीक न हो किन्तु उसकी तीव्रता कम की जा सकते है अथवा
असाध्य जो ठीक न हो सके है।

3.रोग के क्रियाकाल (संचय प्रकोप प्रसर आदि) के अनुरूप ही चिकित्सा पद्धति का चयन करना चाहिए।

4 संशमन की अपेक्षा संशोधन चिकित्सा का बहुत अधिक महत्व है। क्योकि संशमन चिकित्सा के पश्चात रोग की पुनरावृत्ति की संभावना बहुत अधिक होती है।

5.किसी भी रोग की चिकित्सा में आहार का बहुत अधिक महत्व है। यहाँ तक कि कुछ रोगों की चिकित्सा केवल मात्र उचित आहार द्वारा की जा सकती है।

6.किसी रोग की चिकित्सा से पहले, यह जानना अत्यावश्यक है, कि रोग साम (आम) युक्त है अथवा निराम (आम रहित) साम रोगों में, जब तक आम की लक्षण पूर्णतः नष्ट न हो जाए चिकित्सा जारी रखनी चाहिए। जबकि निराम रोगों में सीधे ही रोग की चिकित्सा की जाती है।

चिकित्सा का प्रयोजन :– चिकित्सा का कर्म कभी निष्फल नहीं जाता है। कहीं इससे धर्म कार्य हो जाता है। कहीं अर्थ (पैसा) मिल जाता है। कहीं मैत्री पैदा होती है, और कहीं यश प्राप्त होता है। इसमें में से कुछ भी नही मिला तो कम से कम क्रियाभ्यास तो अवश्य प्राप्त होती है। अर्थात किस औषधि से किस अवस्था में लाभ या हानि हो सकती है, इसका ज्ञान अवश्य ही हो जाता है। सर्वोपरि जीवन दान से बढ़कर कोई भी दान नहीं है। चिकित्सा करते हुए, रोगी को लाभ होने पर इस दान का फल सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। आयुर्वेद शास्त्र के पठन, पाठन श्रवण एवं क्रियाभ्यास का फल को समुच्चय बतलाते हुए, सुश्रुत ने कहा है, कि वह मनुष्य पुण्यकर्मी है, जो इस शास्त्र को पढ़ाता है। उसके जीवन काल में उसका यश फैलता है। और मरने के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

पुराणों में कहा गया है कि वैद्य यदि अपनी औषधि योजना से एक रोगी को भी निरोग कर दे तो वह अपने सात पीढ़ीयों सहित पुण्य को प्राप्त करता है, एवं

ब्रम्हलोक का भागी होता है।

चिकित्सा की महिमा :– कहा गया है कि कई रोगी अपने आत्मबल से गंभीर व्याधि से मुक्त हो जाते है, कई रोगी उत्तम द्रव्य, उपधारक, वैद्य से सम्पन्न होकर भी रोग मुक्त नहीं होते है और बहुत बार मरते हुए भी दिखाई देते है। इसलिए हित–अहित सेवन तथा चिकित्सा का कहना है, कि इस प्रकार नास्तिक बुद्धि का परित्याग करना चाहिए। इस तरह चिकित्सा ही श्रेष्ठ है। यदि जहां बिना चतुष्पाद के रोग ठीक हुआ तो यह काल (मौसम) का प्रभाव है, परंतु यदि चिकित्सा होती तो बिना चिकित्सा के शांत ही नहीं हो सकता है। अर्थात चिकित्सा शास्त्र के द्वारा अकाल मृत्यु हटाई जा सकती है। अकाल मृत्यु कारक रोगों को नष्ट करने के लिए चिकित्सा शास्त्र दृढ़ है। उत्पन्न रोगों से भयभीत मनुष्यों के लिये सूत्र रहित यह चिकित्सा शास्त्र रक्षा सूत्र है।

चिकित्सा विज्ञान के अंतर्गत हम दोषों की सामान्य उपक्रम का अध्ययन करेंगे। जैसा कि पूर्व में बताया जा

कि दोषों की विषमता (क्षय, वृद्धि) से रोग होते हैं। दोषों की विषमता तीन प्रकार की होती है।

1. दोषों का क्षीण (कम) होना।
2. स्थानान्तरण गमन से अपने स्थान से गमन करना
3. दोषों की वृद्धि से।

उपर्युक्त तीनों अवस्था में भिन्न भिन्न रोगे उत्पन्न होते है। चिकित्सा के दौरान क्षीण दोषों को बढ़ाते है, बढ़ें दोषों को कम नहीं करते उसका शमन या शोधन करते है। एवं अपने स्थान से गमन हुये दोषों को उसके स्थान में लाना यहीं चिकित्सा सिद्धांत हैं।

अतः दोषों के प्राकृत गुण, प्रकोपक लक्षण एवं उपशमन का वर्णन करते हैं।

वात दोष के गुण :– रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद खर से वायु के प्राकृत गुण है। इन गुणों में वृद्धि होना या कम होना रोग को उत्पन्न करता है।

वात प्रकोप के कारण :–

1. अत्यधिक व्यायाम, अपर्तपण, शरीर में चोट लगना।
2. धातुओं का क्षय, अधिक जागरण।
3. मूत्र, पुरीष के वेगों को रोकना।
4. अतिशोक, चिंता, भय को रोकना।

5. कषाय, कटु, तिक्त, रस वाले द्रव्यों के अधिक सेवन से।

6. वर्षा ऋतु में भोजन पचने के बाद शाम के समय में एवं वृद्धा अवस्था में वायु कुपित होती है।

उपाय –

1. स्नेहन स्वेदन करना।
2. हल्का बस्तिकर्म करना।
3. मधुर, अम्ल, लवण रस प्रधान भोजन करना।
4. तेल का मालिश उष्ण पानी से स्नान।
5. दीपन, पाचन द्रव्यों से सिद्ध स्निग्ध द्रव्यों का सेवन इत्यादि।

वात दोष के प्रकोप से 80 प्रकार से वातज् रोग उत्पन्न होते है।

पित्त दोष के प्राकृत गुण :– स्निग्ध उष्ण तीक्ष्ण द्रव, सर (बहना) अम्ल, कटु ये पित्त दोष के प्राकृत गुण होते है। जो रूक्ष शीत, मृदु सान्द्र स्थिर मधुर, विक्त कषाय रस वाले द्रव्यों के सेवन से शांत होते है।

पित्त प्रकोपक कारण :–

1. कटु, अम्ल विदाही (जलन उत्पन्न करने वाला) तीक्ष्ण, लवण रस से युक्त पदार्थो के सेवन।
2. क्रोध उपवास धूप, स्त्रीसंग के अधिक सेवन।
3. तिल, अलसी, दही, मछली, शराब के अधिक सेवन से।
4. भोजन पचने की क्रिया के मध्य जब भोजन ग्रहणी में होता है।
5. शहद एवं ग्रीष्म ऋतु में।
6. दिन के मध्य दोपहर में आधीरात को पित्त प्रकुपित होता है।

पित्त प्रकोपक के लक्षण –

1. शरीर में फुन्सी फोड़ो का निकलना ।
2. मुह में खट्टापन शरीर से दुर्गन्ध आना।
3. घाव का पकना, शीघ्रता से फैलना।
4. बेचैनी प्यास की अधिकता, अत्यधिक भुख लगना।
5. चक्कर अधिक गर्मी लगना, आंखों के आगे अंधेरा छाना।
6. मुख में कडवाहट, अम्लता, कटुरस का महसूस होना।
7. शरीर का रंग पीला होना जलन होना।

ये प्रकुपित पित्त का लक्षण है। पित्त प्रकोप से 40 प्रकार के रोग उत्पन्न होते है।

कफ प्रकोप के लक्षण –

1. पेट का भरा, लगना या भुख नहीं लगना।
2. नींद ज्यादा आलस्य लगना।
3. शरीर में भारी पन जकड़ाहट।
4. मल का गांठदार चिकना होना।
5. अपचन मुख में कफ लिप्त रहना।
6. शरीर में खुजली नाक बहना।
7. खॉसी शरीर का रंग सफेद होना।

ये सब प्रकुपित कफ के लक्षण हैं, कफ प्रकोप से 20 प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं।

उपक्रम –

1. वमन कर्म कराना।
2. रूक्ष, उष्ण–वीर्य कटु तिक्त कषाय रस प्रधान आहार एवं औषधि द्रव्यों का प्रयोग।
3. पुराना, मंदिरा रात्री जागरण करना।
4. व्यायाम, परिश्रम चिंतन।
5. हल्का भोजन धूम्रपान, उपवास, गण्डुषआदि का प्रयोग करना चाहिए।

सारांश –

- आपने इस इकाई में चिकित्सा की परिभाषा।
- चिकित्सा भेद एवं भेदों की व्याख्या।
- चिकित्सा का प्रयोजन एवं महिमा।
- दोषों के विकृत लक्षण उपचार
- सर्व रोगों में एवं औषधि का अध्ययन किया।
- इस इकाई के अध्ययन पश्चात् आप आयुर्वेद शास्त्र के सामान्य चिकित्सा व्यवस्था को समझ सकते हैं।

अभ्यास प्रश्न –

- चिकित्सा से आप क्या समझते है।
- चिकित्सा के भेद लिखकर इन्हें स्पष्ट करें।
- चिकित्सा के प्रयोजन एवं महत्व लिखें।
- चिकित्सा के चतुष्पाद क्या है स्पष्ट करें।
- वात दोष के प्रकोप कारण, लक्षण एवं उपक्रम लिखें।
- पित्त दोष के प्रकोप कारण, लक्षण उपक्रम लिखें।

चिकित्सा विज्ञान एवं पंचकर्म

इकाई –7 (शमन चिकित्सा विज्ञान)

इकाई की रूपरेखा –

1. उद्देश्य ।
2. प्रस्तावना।
3. विषय वस्तु।
   - शमन चिकित्सा परिचय।
   - संतर्पण चिकित्सा परिचय।
   - अपतर्पण चिकित्सा परिचय।
   - लंघन, बृहण, रूक्षण कर्म परिचय।
   - स्तभ्भन स्नेहन एवं स्वेदन कर्म परिचय।
4. सारांश ।
5. अभ्यास प्रश्न ।

उद्देश्य

इस इकाई में आप चिकित्सा के मुख्य भेद, युक्तीयुक्त चिकित्सा के अंतर्गत शमन चिकित्सा का अध्ययन करेंगे।जिससे आप :–

- शमन चिकित्सा को समझेंगे।
- अपतर्पण, संतर्पण चिकित्सा को जानेंगे।
- लंघन, रूक्षण, स्वेदन कर्म को समझ पायेंगे।
- स्नेहन, बृहंण एवं स्तम्भन कर्म का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

प्रस्तावना

यह चतुर्थ प्रश्न पत्र की दूसरी इकाई है। पहले इकाई में आप ने चिकित्सा से संबंधित सिद्धांतों का अध्ययन किया। जिसमें चिकित्सा की परिभाषा, भेद, चिकित्सा के चारों पाद एवं दोषों के क्षय, प्रकोप लक्षण एवं उपक्रम का अध्ययन किया, इस इकाई में चिकित्सा के कुछ विशेष प्रकार का ज्ञान प्राप्त करेंगे। शमन चिकित्सा कोई बहुत जटिल प्रक्रिया नहीं है। यह प्रकुपित दोषों को शरीर में ही शांत या शमन करने की प्रक्रिया है इसमें 1. संतर्पण 2. अपतर्पण चिकित्सा का अध्ययन करेंगे और इस विषय के अंतर्गत लंघन, बृहंण, स्वेदन, स्नेहन जैसे सरल उपायों के द्वारा दोष शमन का अध्ययन करेंगे और हमारा प्रयास है कि इन छोटी–छोटी उपायों को अपने जीवन में प्रयोग कर स्वस्थ एवं सुखी रहेंगे।

विषय– वस्तु

शमन चिकित्सा विधि

आयुवेर्दीय चिकित्सा पद्धति आधुनिक चिकित्सा पद्धति से एक भिन्न है। तो रोग के उपचार के लिए सम्पूर्ण रोगी को अपना लक्ष्य बनाती हैं अर्थात् इसका उद्धेश्य रोगी के शरीर में इस तरह का वातावरण बनाना है, जिससे रोग अथवा प्रकुपित दोष आदि रोग के मूलकारण तत्व स्वयं ही नष्ट हो जाएं। इसके लिए चिकित्सक हुष्ट पुष्ट रोगी के लिए इस प्रकार की चिकित्सा पद्धति का आश्रय लेता है। जो उसके शरीर के अंदर संचित हुए दोष, धातु, मल आदि को बाहर निकाल कर लघुता ला सके। इसके विपरीत एक दुबले पतले व क्षीण दोष व धातु वाले रोगी के लिए ऐसी चिकित्सा पद्धत्ति अपनानी पड़ती है, जो उसके शरीर व दोषों आदि को पुष्टि प्रदान कर सके। किसी के शरीर में बढ़ी हुई स्निग्धता व कफ आदि के लिए रूक्षता लाने वाली चिकित्सा पद्धति को अपनाना होता है तो किसी दूसरे के शरीर में रूक्षता वायु आदि दोषों को दूर करने के लिए स्निग्धता लाने वाली चिकित्सा पद्धतियों का आश्रय लेना होता है। इन पद्धतियों के लिए चिकित्सक को तत्तद् गुणों वाली औषधियों का ही प्रयोग करना होता है।

इन सभी प्रकार की चिकित्सा विधियों को मुख्य रूप से निम्नलिखित दो भागों में बांटाँ गया है।

1. संतर्पण अथवा बृहंण चिकित्सा :– इसके अंतर्गत उन औषधि द्रव्यों और साधनों का प्रयोग किया जाता है। जिनसे शरीर में गुरूता (भारीपन) का अनुभव होता है। इससे शरीर के पोषण और निर्माण में सहायता मिलती है। इस वर्ग की औषधियाँ, आहार और अन्य साधनों में पृथ्वी और जल महाभूतों की प्रधानता होती है।

2. अपतर्पण अथवा लंघन चिकित्सा :– इस वर्ग में उन औषधियों और साधनों का प्रयोग किया जाता है, जिनसे शरीर का वजन कम होता है तथा शरीर में लघुता का अनुभव होता है। इस वर्ग की औषधियाँ, आहार और साधनों में तेजस्, वायु और आकाश महाभूतों की प्रधानता होती है। चूकि पंचमाहाभूतों में संतर्पण और अपतर्पण दोनों प्रकार के गुण पाये जाते हैं अतः इनके सम्मिश्रण से निर्मित भौतिक पदार्थो के प्रयोग से भी शरीर पर उपरोक्त दोनों प्रकार के प्रभाव पड़ते है।

आयुर्वेद में इन दोनों प्रकार की चिकित्सा के लिए विभिन्न क्रियाओं को प्रयोग किया जाता है। ये निम्नलिखित छः प्रकार के होते है :–

1. लंघन चिकित्सा
2. बृहंण चिकित्सा
3. रूक्षण चिकित्सा
4. स्नेहन चिकित्स
5. स्वेदन चिकित्सा
6. स्तम्भन चिकित्सा

इन सबका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

1. **लंघन चिकित्सा** :– जो चिकित्सा शरीर को लघुता प्रदान करती है, उसे लंघन कहते है। लंघन चिकित्सा का प्रयोग निम्न उपायों से किया जाता है।

i संशोधन चिकित्सा का प्रयोग करना। यह चिकित्सा पांच प्रकार की है वमन अर्थात उल्टी द्वारा मल व दोषों को बाहर निकालना, विरेचन अर्थात् दस्त द्वारा दोषों को बाहर निकालना अनुवासन व निरूह बस्ति (दो प्रकार का एनिमा) तथा नस्य अर्थात् नाक में औषधियाँ डालकर दोषों व मलों को बाहर निकालना।

ii प्यास पर नियंत्रण रखना,

iii हवा और धूप का सेवन,

iv पाचक औषधियों का सेवन,

v उपवास

vi शारीरिक व्यायाम।

यदि संशोधन चिकित्सा का उपयोग शरीर अपचयन अर्थात् शरीर को कृश करने के लिए करना हो, तो ऐसे व्यक्तियों पर करना चाहिए, जिनका शरीर स्थूल अथवा मोटा अथवा शक्तिशाली हो। इसके अतिरिक्त ऐस व्यक्तियों पर भी संशोधन चिकित्सा का प्रयोग किया जा सकता है, जो कफ, पित्त, रक्त तथा मल (जिसके साथ वायु दोष भी प्रकुपित हो) की अधिकता से होने वाले रोगों से पीड़ित हो।

वमन अतिसार, हैजा, ज्वर, कब्ज, शरीर में भारीपन डकार आना, जी मिचलाना तथा अरूचि आदि रोग यदि कफ और पित्त दोषों के प्रकोप से उत्पन्न हों, और यदि ये रोग मध्यम प्रकृति के हों (अर्थात न बहुत अधिक तीव्र अवस्था में हो

और न अल्प अवस्था में) तो प्रारंभ में इनकी चिकित्सा ऐसी औषधियों से करनी चाहिए, जो रोगी की पाचन शक्ति में वृद्धि करें और यदि ये रोग अपनी अल्प अवस्था में हों, तो इनकी चिकित्सा प्यास के नियंत्रण (अर्थात कम से कम जल ग्रहण करना) एवं उपवास द्वारा करनी चाहिए। यदि एक बलशाली व्यक्ति मध्यम और मृदु प्रकार के उपर्युक्त रोगों से पीड़ित है, तो शारीरिक व्यायामों और धूप एवं हवा के सेवन द्वारा ही इनका उपचार किया जा सकता है।
चर्म रोगों एवं कठिन मूत्र रोगों से पीड़ित स्थूलता के साथ–साथ स्निग्धता एवं तरलता से युक्त शरीर वाले एवं वायु के प्रकोप से होने वाले रोगों से पीड़ित रोगी की चिकित्सा के लिए यदि चिकित्सक को अपतर्पण (शरीर को दुर्बल करने वाली) चिकित्सा का प्रयोग करना पड़े तो हेमन्त शिशिर ऋतुओं अर्थात् नवम्बर से फरवरी में ही करना चाहिए।

लंघन चिकित्सा के लिये लघु, तीक्ष्ण, विशद अर्थात चिपचिपाहट से रहित शुष्क, रूक्ष सूक्ष्म, तरल तथा कठोर औषधियों का प्रयोग किया जाता है।

2. बृहंण चिकित्सा :– वात अथवा वात पित दोषों के प्रकोप से पीड़ित क्षय, (राजयक्ष्मा) क्षीणता, जरावस्था दुर्बलता, अधिक कार्य और लम्बी यात्रा से थके हुए एवं अत्याधिक मैथुन और मद्य सेवन के अभ्यस्त व्यक्तियों को बृहंण चिकित्सा की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के व्यक्तियों को ग्रीष्म ऋतु में इस चिकित्सा की अधिक आवश्यकता होती है। प्राकृतिक वातावरण में स्वच्छंद घूमने व विचरण करने वाले छोटे पशुओं, मछलियों और पक्षियों का ताजा मांस (जिन्हें तीर संधान जैसी विषरहित विधियों द्वारा मार कर प्राप्त किया गया हो) दूध, घी, पनीर, मक्खन व चीनी का सेवन, स्नान, उबटन, अच्छी निद्रा मधुर और स्निग्ध औषधियों से बस्ति लेना (एनिमा) तथा शोक और चिन्ताओं से दूर रहना– ये सब आहार विहार पुष्टि प्राप्त करने के उपाय माने जाते हैं। और यही बृहंण चिकित्सा है। शोष, बवासीर तथा ग्रहणी जैसे रोगों के कारण दुर्बल हुए रोगियों के लिए मांस भक्षी पशुओं और पक्षियों (विशेषकर जो लघु अर्थात शीघ्र पचने वाले हो) के मांस का रस विशेष उपयोगी तथा पुष्टिकारक माना जाता है।
इस चिकित्सा के लिए गुरू अर्थात भारी शीतल, कोमल, मंद, चिपचिपे, स्थूल, गाढ़े व घने पदार्थ उपयुक्त माने गये है।

3. **रूक्षण चिकित्सा** :– रूक्षण चिकित्सा की आवश्यकता ऐसे रोगों में होती है। जिसमें शरीर के स्त्रोतों में अवरोध उत्पन्न हो गया हो, वायु आदि दोष बहुत अधिक मात्रा में बढ़े हो तथा उनकी अभिव्यक्ति शरीर के मर्म अंगो में हो। जैसे ऊरूस्तम्भ वातरक्त तथा कष्टसाध्य या कठिन मूत्र रोगों में इस चिकित्सा पद्धति का प्रयोग करना चाहिए। कटु, तिक्त एवं कषाय रस वाले पदार्थो, तिल और सरसों से बने औषधि व शहद का सेवन तथा मैथुन रूक्षण चिकित्सा के अंतर्गत आते है। इस चिकित्सा के लिए रूक्ष, लघु, शुष्क, तीक्ष्ण, उष्ण, स्थूल, अचिपचिपी तथा कठोर औषधियों का प्रयोग किया जाता है।

4. स्नेहन चिकित्सा :– जिस चिकित्सा से शरीर में स्निग्धता मृदुता एवं क्लेदत्व की वृद्धि होती है वह स्नेहन कहलाता है। स्नेहन चिकित्सा के लिए घी, तेल, वसा और मज्जा का प्रयोग किया जाता है। इन सबमें घी का प्रयोग सर्वोत्तम माना गया है। घी के साथ जिन औषधियों को पकाया जाता है। वह उनके गुणों को बहुत अधिक अंश में अपने साथ मिला लेता है। यह पित्त एवं वायु दोषों का शमन करता है, तथा रस धातु एवं शुक्र धातु को बढाता है। इसके सेवन से शरीर पर स्निग्ध प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त घी आवाज व वर्ण को निखरता हैं।

तैल वायु दोष का शमन करता है किन्तु कफ दोष की वृद्धि नही करता, वसा का प्रयोग शारीरिक व्यायाम एवं श्रम करने वालों के लिए विशेष लाभप्रद है। इसके सेवन से पुसंत्व में भी वृद्धि होती है। आघात, हड्डी की टूट जाना, गर्भाशय भ्रंश तथा कान एवं सिर के दर्द की चिकित्सा के लिए भी वसा का प्रयोग किया जाता है।

मज्जा का प्रयोग भी स्नेहन के लिए किया जाता है। इसके प्रयोग से बल, शुक्र, रस धातु, मेदाधातु मज्जा धातु तथा कफ में वृद्धि होती है। यह शारीरिक बल, विशेषकर अस्थियों के बल को बढ़ाता है।

पित्त शमन के लिए सभी स्नेहों में घी सर्वोत्तम है तथा मज्जा, वसा और तैल क्रमश हीनतर माने गये है। इसके विपरीत वायु शमन के लिए तैल सर्वोत्तम स्नेह है, जबकि वसा, मज्जा तथा घी क्रमशः कम प्रभावकारी है । वसा एवं सब उपरोक्त स्नेह पदार्थो का प्रयोग अलग–अलग ऋतुओं में करना चाहिए। जैसे घी का सेवन शरद ऋतु में वसा व मज्जा का प्रयोग बैशाख या ग्रीष्म ऋतु (अप्रैल मई) में तथा तैल का प्रयोग वर्षा ऋतु में करना चाहिए। स्निग्ध पदार्थो का सेवन करते समय यह सावधानी रखनी चाहिए कि बहुत अधिक गर्म अथवा

बहुत अधिक ठण्डे पदार्थो का सेवन कभी न करें।
स्नेहन चिकित्सा के लिए तरल, सूक्ष्म, स्निग्ध, चिपचिपी ,गुरू ,शीतल, कोमल तथा मंद औषधियों का प्रयोग किया जाता है।

स्वेदन चिकित्सा :– जो चिकित्सा स्तम्भन, भारीपन एवं शीत का नाश करती है तथा शरीर में पसीना लाती है, वह स्वेदन क्रिया कहलाती है। आयुर्वेद में तेरह प्रकार की स्वेदन चिकित्सा का उल्लेख मिलता है। इन सभी के प्रयोग की विधि पथ्य तथा निषेध अलग–अलग है। इस चिकित्सा का उपयोग प्रतिश्याय अर्थात बिगड़ा हुआ जुकाम, खांसी, हिचकी, श्वास, शरीर, में भारीपन, कान, गर्दन तथा सिर में दर्द, आवाज का भारीपन अथवा गला बैठना लकवा एक अंग, पूरे शरीर अथवा शरीर के आधे भाग में पक्षाघात, कब्ज, मूत्र वेग का अवरोध, अधिक जम्भाइयाँ आना, पार्श्व, पीठ, कमर और उदर में ऐंठन, मूत्रकृच्छ, वृषण कोषों में वृद्धि, शरीर में दर्द, पैरों, घुटनों व पिंडल्लियों में दर्द एवं ऐंठन, सूजन, खल्ली, विकृत पाचन एवं चयापचय क्रियाओं से उत्पन्न रोग, बहुत अधिक ठंडे व कम्पन, वात कण्टक अर्थात गुल्फ सन्धि में वात विकार उत्पन्न होना, संकुचन, शूल, बहुत अधिक गुरूता (भारीपन), सुन्नपन तथा सारे शरीर को प्रभावित करने वाले रोगों में किया जाता है।

स्वेदन के लिए उष्ण, तीक्ष्ण, सर स्निग्ध, रूक्ष, सूक्ष्म, स्थिर, द्रव और गुरू द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

6. स्तम्भन चिकित्सा :– जो चिकित्सा बहने वाले वस्तु को निश्चित रूप से रोक दे, वह स्तम्भन क्रिया कहलाती है। जो व्यक्ति पित्त के प्रकोप क्षार और अग्नि से दग्ध हों, जो अतिसार और वमन से पीड़ित हो, तथा जो विष और स्वेद के अतियोग के शिकार हो, उनके लिए स्तम्भन क्रिया का प्रयोग करना चाहिए। स्तम्भन क्रिया के पश्चात् यदि रोग शांत हो जाता है तथा पुनः बल प्राप्त कर लेता है, तो समझना चाहिए कि स्तम्भन क्रिया ठीक प्रकार सम्पन्न हो गई है। बल प्राप्त कर लेता है, तो समझना चाहिए कि स्तम्भन क्रिया ठीक प्रकार सम्पन्न हो गई है।
स्तम्भन के लिए द्रव, पतले, स्थिर तथा शीतकारक, मधुर, तिक्त और कषाय रस वाले औषधि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

उपरोक्त चिकित्सा पद्धतियों में रूक्षण और स्वेदन क्रियाएं अपतर्पण अथवा लंघन चिकित्सा के अतंर्गत तथा स्नेहन और स्तम्भन क्रियाएं बृहंण अथवा

संतर्पण चिकित्सा के अंतर्गत आती है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उद्धेश्यों के आधार पर लंघन चिकित्सा निम्नलिखित दो प्रकार की है :

1. **शोधन चिकित्सा** :– जिस चिकित्सा में प्रकुपित दोषों और मलों को शरीर की स्वाभाविक विसर्जन अंगों (गुदा, मुत्रेन्द्रिय त्वचा, नाक, मुँह) द्वारा बाहर निकाला जाता है। वह शोधन चिकित्सा कहलाती है। इसके बाद वर्णित पंचकर्म इसी श्रेणी में आते है। ऊपर वर्णित स्वेदन, और स्नेहन, पंचकर्म में पूर्वकर्म के रूप में प्रयुक्त किये जाते है।

2. **शमन चिकित्सा** :– इस प्रक्रिया में प्रकुपित दोषों और मलों को शरीर से विसर्जित किये बिना तथा अप्रभावित दोषों को प्रकुपित किये बिना ही उसको साम्यावस्था में लाया जाता है। तथा रोग का नाश किया जाता है, वह शमन चिकित्सा कहलाता है। इसके अंतर्गत निम्नलिखित उपायो का प्रयोग किया जाता है।

(क) दीपन : पाचन शक्ति एवं क्षुधा की वृद्धि के लिए औषधियों का प्रयोग
(ख) पाचन : पाचनशक्ति की वृद्धि एवं भोजन का पारिपाक करने वाली औषधियों का प्रयोग।
(ग) क्षुधानिग्रह अथवा उपवास : भूखे रहना अथवा बहुतहल्का भोजन ग्रहण करना।
(घ) पिपासा निग्रह – प्यासे रहना।
(ड) व्यायाम : शारीरिक श्रम अथवा योगासन आदि।
(च) आतप : धूप में बैठना।
(छ) मारूत : खुली व ताजी हवा में बैठना।

इन सभी उपायों से दोषों का बाहर विसर्जन किये बिना ही शरीर में उनका शमन हो जाता है।

लंघन के विभिन्न उपायों का प्रयोग :– i कफ और पित्त दोषों के प्रकुपित होने पर, स्थूलता, आमदोष ज्वर, वमन, अतिसार, हृदय रोग, कब्ज, डकार आना, अरूचि, मोटापा तथा शरीर में भारीपन होने पर शोधन कर्म का प्रयोग करना चाहिए। शोधन योग्य रोगी को बलशाली होना चाहिए दुर्बल नहीं।

ii यदि मेदोवृद्धि (मोटापा) हो परन्तु अन्य स्थितियां सामान्य हों, तो दीपन व पाचन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

iii मेदोवृद्धि हो परन्तु अन्य स्थितियां कुछ विकृत हो, तो उपवास और पिपासा, निग्रह लाभकारी रहेंगे।

iv जब रोगी बलवान हो और दोष थोड़ी एवं सीमित मात्रा में प्रकुपित हो, तो उपचार के लिए धूप व मंद पवन का सेवन एवं शारीरिक व्यायाम उपयोगी हैं। लंघन चिकित्सा के बाद रोगी की बृहंण चिकित्सा कभी भी नहीं करनी चाहिए परंतु बृहंण के पश्चात हल्की लंघन चिकित्सा की जा सकती है। अथवा रोगी की शक्ति, स्थान देश एवं समय के अनुसार सावधानीपूर्वक बृहंण और लंघन का बारी–बारी से प्रयोग किया जा सकता है।

सम्यक् लंघन के लक्षण :– यदि लंघन कर्म भली भांति हो गया हो, तो रोगों में निम्न लक्षण दिखाई देंगे।

i इन्द्रियों में स्वच्छता की अनुभूति,
ii मलों का सुविधापूर्वक विसर्जन,
iii शरीर में लघुता की अनुभूति,
iv जिह्वा में अच्छे स्वाद की अनुभूति,
v भूख और प्यास की अनुभूति,
vi मस्तिष्क गले और उद्गारों में स्वच्छता,
vii मूलभूत रोग का नाश,
viii साहस की प्राप्ति तथा,
ix आलस्य का नाश अथवा स्फूर्ति इत्यादि।

अतिलंघन :– यदि लंघन आवश्यकता से अधिक हो जाए तो रोगी में निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते है।

अत्यधिक कृशता व दुर्बलता, चक्कर, आना खांसी, अत्यधिक प्यास अरूचि, शरीर में स्निग्धता, पाचकाग्नि, नींद, भूख, शुक्र एवं ओजस् का क्षय, दृष्टि श्रवण शक्ति एवं स्वर का क्षय, शरीर के विभिन्न अंगों में दर्द व पीड़ा, ज्वर, प्रलाप थकावट व उल्टी होना, जोड़ों और हड्डियों में टूटन सी दर्द, पक्षघात एवं मलमूत्र के विसर्जन में रूकावट।

अतिलंघन की चिकित्सा –

अतिलंघन होने पर रोगी की चिकित्सा इस प्रकार करनी चाहिए।

i– बृहंण औषधियों, खाद्य पदार्थो व पेय पदार्थो का प्रयोग।
ii - मानसिक शोक, चिन्ता, भय, आदि से दूर रहना,
iii–सभी प्रकार के बृहंण साधनों का प्रयोग।

iv– पर्याप्त समय तक तथा आराम से सोना तथा
v– मांसाहारी जानवरों के मांस का सेवन,
इन उपायों से उपरोक्त उपद्रव धीरे–धीरे शांत हो जायेंगे।

बृहंण चिकित्सा :– जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इसके अंतर्गत स्नेहन और स्तम्भन क्रियाएं आती है।

सम्म्यक बृहंण लक्षण :– यदि बृहंण चिकित्सा ठीक प्रकार से सम्पन्न हुई तो रोगी में निम्नलिखित लक्षण प्रकट होंगे।

i – रोगी को बल की प्राप्ति,
ii – पोषण और शरीर के गठन में सुधार,
iii - रोग का शमन,

अतिबृहंण लक्षण :– आवश्यकता से अधिक बृहंण होने पर निम्नलिखित उपद्रव हो सकते है, स्थूलता (मोटापा) अपच, प्रमेह, ज्वर, उदर रोग, भगन्दर, कास, सन्यास, मूत्र में रूकावट, आम दोष व कुष्ठ रोग (अनेक प्रकार के चर्म रोग)।

अतिबृहंण की चिकित्सा :– ऐसी स्थिति में मेद, वायु और कफ को शांत करने वाली औषधियां आहार व विहार का प्रयोग करना चाहिए।

औषधियाँ :– त्रिफला, गिलोय, हरड़ अथवा मुस्ता इनमें से किसी एक को शहद में मिलाकर अथवा रसांजन, वृहत् पंचमूल, गूग्गल, शिलाजीत, इनमें से किसी एक को अग्निमंथ के रस के साथ देना चाहिए।

आहार :– काले चने, जौ, मूंग, जल के साथ शहद, मस्तु (दही के ऊपर का जलीय अंश) मठा तथा अरिष्ट का सेवन।

विहार :– शोक, चिंताकरना, रात्रि जागरण तथा शोधन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

सारांश

आपने इस इकाई में चिकित्सा की परिभाषा का वह माध्यम जिसका आप आसानी से प्रयोग कर सकते है। उसका अध्ययन किया। शमन चिकित्सा को प्रतिदिन दिनचर्या में शामिल कर स्वस्थ रहा जा सकता है।

- संतर्पण चिकित्सा की परिभाषा।
- लंघन, बृहंण, रूक्षण, चिकित्सा परिचय।
- अपतर्पण चिकित्सा की परिभाषा।
- स्नेहन स्वेदन, स्तम्भन चिकित्सा परिचय का अध्ययन किया।

अभ्यास प्रश्न

- शमन चिकित्सा से आप क्या समझते है।
- संतर्पण चिकित्सा के अंतर्गत कौन–कौन सी विधि है नाम लिखकर, परिचय लिखे।
- अपतर्पण चिकित्सा की परिभाषा लिखते हुए, उनके भेदों को स्पष्ट करें।
- स्वेदन क्रिया से आप क्या समझते हैं। स्पष्ट करें।
- स्नेहन क्रिया का परिचय लिखें।

चिकित्सा विज्ञान एवं पंचकर्म

इकाई–8 (पंचकर्म–विज्ञान)

इकाई रूप रेखा –

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. विषय वस्तु – पंचकर्म विज्ञान।
   - शोधन या पंचकर्म परिचय एवं भेद
   - पूर्व कर्म परिचय
   - प्रधान कर्म का परिचय
     आचार्य चरक एवं सुश्रुत अनुसार।
   - पश्चात् कर्म का महत्व।
   - पंचकर्म का प्रयोजन एवं महत्व
4. सारांश
5. अभ्यास प्रश्न।

उद्देश्य– इस इकाई में हम पंचकर्म–विज्ञान का संक्षिप्त में अध्ययन करायेगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :–

1. पंचकर्म विज्ञान का परिचय प्राप्त करेंगे।
2. पूवकर्म की आवश्कता को जानेंगे।
3. पंचकर्म के महत्वपूर्ण कर्मों को समझेंगे।
4. पश्चात् कर्म के महत्व को समझेंगे।
5. पंचकर्म के महत्व को जानेंगे।

प्रस्तावना :– आप इस इकाई में आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र का प्रमुख अंग पंचकर्म चिकित्सा का संक्षिप्त अध्ययन करने जा रहे है। आयुर्वेद में पंचकर्म संपूर्ण चिकित्सा कहलाती है और योग्य एवं विशेषज्ञ की देखरेख में यह चिकित्सा की जाती है। शरीर में किसी भी प्रकार की विकृति की शल्य चिकित्सा करने से, या कभी–कभी अंग को शरीर से अलग कर देने पर भी वह रोग पुनः कुछ सालों बाद उभर जाता है। या दूसरे अंग में उत्पन्न हो जाता है। परंतु पंचकर्म या शोधन कर्म से शांत रोग का पुनः उत्पन्न होना असंभव है। चूंकि दोषों की चिकित्सा संशोधन कर्म से की जाती है। अतः विकृत दोष के द्वारा उत्पन्न रोग शरीर से बाहर निकाला जाता है। ये पंचकर्म जैसे वमन कर्म इसमें मुख मार्ग से दूषित दोषों को औषध द्रव्य का सेवन कर, उल्टी कराया जाता है। विवेचन के अंतर्गत औषध द्रव्यों के द्वारा दोषों को गुदामार्ग से बाहर निकाला जाता है। औषधि गुदामार्ग से प्रविष्ट कराकर वेग के साथ विकृत दोष को बाहर निकाला जाता है। दोषों के अनुसार पंचकर्म में भी अलग–अलग कर्म करते है। जैसे वात, दोष में बस्ति कर्म, पित्त दोष में विरेचन कर्म एवं कफ दोष में वमन कर्म कराते हैं। सिरोविरेचन कर्म में सिर के उपरी भाग में उत्पन्न त्रिदोषज, रोगों को नस्य आदि के द्वारा शरीर से बाहर निकाला जाता है रक्त मोक्षण कर्म वमन कर्म वेग विशेष करके रक्त दोषी से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा की जाती है। रक्त धातु है और पहले भी बता चुके है कि दूषित आहार विहार से शरीर में सर्व प्रथम वात, पित्त, कफ दोष दूषित होते है, एवं धातुओं को दूषित करते है। अतः दोषों द्वारा दूषित रक्तज रोगों से रक्त मोक्षण किया जाता है। पंचकर्म (पूर्व कर्म, प्रधान, पश्चात् कर्म,) तीन स्तर में पूरा करते है। 1. प्रधान कर्म, 2. पूर्व कर्म, (स्नेहन, स्वेदन) एवं 3. पश्चात् कर्म का होता है। अतः इस इकाई में संशोधन कर्म के साथ ही पूर्व कर्म के पश्चात् कर्म की महत्ता बताई गई है और अंत में पंचकर्म का प्रयोजन पर प्रकाश डाला गया है। अतः यह स्पष्ट है कि इस इकाई के अध्ययन पश्चात् छात्र इस सिद्ध चिकित्सा पद्धति को समझकर इस ओर आकर्षित होंगे एवं आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति की गहराईयों को समझ पायेंगे।

विषय वस्तु

पंचकर्म चिकित्सा परिचय

पंचकर्म चिकित्सा आयुर्वेदीय चिकित्सा का महत्वपूर्ण अंग है। इसके बिना इस चिकित्सा पद्धति को अधूरा कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी। चूंकि रोगोत्पति का प्रधान कारण शरीर में त्रिदोष (वायु, पित्त और कफ) का प्रकोप है, अतः शरीर के मल–द्वारों के माध्यम से इन प्रकुपित दोषों और मलों का निःसरण करके रोगों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। यह पद्धति ही संशोधन पद्धति कहलाती है। पंचकर्म इसी संशोधन पद्धति का अंग है। यह शरीर को सिर्फ रोगों से ही मुक्त नहीं करती, अपितु उसे स्वस्थ्य व स्मृतिमय भी बनाती है। पंचकर्म द्वारा शरीर हर प्रकार से शक्ति प्राप्त करता है। परिणामतः शरीर का निर्जीव व अशक्त भाग तो पुनः कार्यशील बनाता ही है, इसके साथ शरीर में रोगों से लड़ने की शक्ति भी प्राप्त होती हैं। इस पद्धति द्वारा ठीक हुआ रोग शरीर पर दुबारा आक्रमण भी नहीं करता।

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट हो रहा है ''पंचकर्म'' का अर्थ है– पांच प्रकार के विशेश कर्म जो शरीर से दोषों को बाहर निकालते हैं। ये पांच कर्म हैं :

1. वमन
2. विरेचन
3. नस्य अथवा शिरो–विरेचन
4. अनुवासन बस्ति
5. निरूह बस्ति

आचार्य सुश्रुत नस्य के स्थान पर रक्त–मोक्षण को पंचकर्म का अंग मानते है। संक्षेप में वमन, कर्म–उदर और श्वसन अंगों से कफ, दोष को बाहर निकालता है, विरेचन, पित्त, दोष को बस्ति, कर्म–वात दोष को नस्य–सिर में जमें हुए कफ को तथा रक्त–मोक्षण, दूषित प्रकृपित और अतिरिक्त रक्त को बाहर निकालता है। इन सभी कर्मों के प्रयोग में विशेश विधि, पूर्व कम (पहले की तैयारी) पश्चात् कर्म (बाद की सावधानियां) विशेष आहार–विहार आदि अनेकानेक बातों को ध्यन में रखना पड़ता है।

आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र में पंचकर्म विाान का सम्यक ज्ञान अति आवश्यक है। चिकित्सा में पंचकर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। चकित्सा के दो भेद है।

1. संशोधन कर्म के अंतर्गत पंचकर्मों का समावेश होता है रोगों को उत्पन्न

करने वाले दूषित दोष विष को शरीर से बाहर निकालने की क्रिया है, जिससे उस रोग की पुनः उत्पत्ति नहीं हो पाती है। जहां पर रसायन एवं बाजीकरण औषधियों द्वारा शरीर का नवीनीकरण संभव रहता हैं वहां भी शोधन की अत्यंत आवश्यकता रहती है। क्योंकि दूषित दोषों से युक्त शरीर में औषधियों का प्रभाव नहीं होता। इसके लिए दूषित दोष एवं धातु एवं मलों से शुद्ध शरीर की आवश्यकता होती है। पंचकर्मो का प्रयोग केवल चिकित्सा के क्षेत्र तक सीमित नहीं है। अपितु स्वास्थ्य संवर्धन में पंचकर्म का शोधन कर्म का महत्वपूर्ण स्थान है जैसे कि हेमन्त ऋतु में संचित पत्ति को बसंत ऋतु के प्रारंभ में भोधन के द्वारा निकाल देने पर श्लेष्मिक पैत्तिक व्याधियों जैसे मसूरीका खसरा, ब्रोन्काइटिस आदि रोग नहीं हो पाते। इसी तरह ऋतु अनुसार संचित दोषों को शोधन के द्वारा निकाल देने से अन्य ऋतु में वह दोष प्रकुपित नहीं होता और ऋतु जन्य रोगों से बचा जा सकता है।

इस तरह चिकित्सा की दृष्टि से एवं अनागत व्याधि की रोकथाम की दृष्टि से पंचकर्म की उपयोगिता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

1.आचरक अनुसार पंचकर्म

1. वमन, 2. विरेचन, 3. अनुवासन (बस्ति कर्म), 4. अस्थापन 5. सिरो विरेचन

2. आचार्य सुश्रुत के अनुसार

1. वमन, 2. विरेचन, 3. बस्ती, 4. सिरो विरेचन, 5. रक्त मोक्षण

आयुर्वेद के सभी प्राचीन आचार्यों ने पंचकर्मों का व्यापक वर्णन अपने–अपने संहिता ग्रंथों में किया है। चरक संहिता में बारह अध्यायों का सिद्धि स्थान नामक स्वतंत्र अध्याय का वर्णन हैं जिसमें पंचकर्म के द्वारा चकित्सा पंचकर्म के लिए औषधि कल्पना का व्यापक वर्णन मिलता है। पंचकर्म चिकित्सा को तीन स्तरों में पूर्ण कराया जाता हैं 1. पूर्व कर्म 2. प्रधान कर्म

3. पश्चात् कर्म

लंघन व पाचन के द्वारा कुपित दोषों का शमन करने से यह संभव है कि वे समय पाकर पुनः कुपित हो जाये, परन्तु पंचकर्म के द्वारा संशोधित शरीर में जिसमें दोषों को निकालकर रोग का शमन किया जाता है। उनसे दोषों के पुनः उभरने की संभावना नहीं रह जाती है। इसी तरह जहां पर रसायन और बाजीकरण संभव रहता है वहां पर भी शोधन की आवश्यकता रहती है। शुद्ध शरीर में औषधियों का गुण उत्तम रूप से प्रकट होता है। पंचकर्म का उपयोग

केवल चिकित्सा के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है अपितु रोग के निवारण में इसका अमूल्य योगदानहै। ऋतु अनुसार शोधन कर्म करने में मनुष्य का जीवन स्वस्थ एवं सुखमय होता है।

वमनकर्म –आमाश्य कोष्ठ गत दोषों को निकालने के लिए स्नेहन, स्वेदन के पश्चात् वामक औषधियों का सेवन कराकर ऊर्ध्व भाग से दोष निर्हरण को वमन कर्म कहते है।

वामक द्रवय तीक्ष्ण व्यवायी विकासी गुण वाले एवं सम्पूर्ण शरीर में दोषों के संचलय को तोड़कर बिना कही रूक संकीर्ण मार्गों से गुजरते हुए आमाशय में एकत्रित होकर उदान वायु से प्रेरित होकर बाहर निकालते है। वामन द्रव्यों में मदन फल को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

कफ जन्य रोगों में श्वास कास, प्रतिश्याम (सर्दी) अरूचि आदि रोगों में वमन कराया जाता है। वृद्ध बालक एवं गर्भवती स्त्रियों में वमन त्याज्य होता है। या इनमें मृदु औषधि जैसे मुलेठी क्वाथ का उपयोग करना चाहिए। उचित रूप से वमन हो जाने पर रोग से शरीर के सभी विकृत लक्षण शांत हो जाते है।

1.**विरेचन कर्म** :– पक्वाश्य छोटी आंत, बड़ी आंत, कोष्ठगत दोषों को अधोमार्ग से हरण करना विरेचन कर्म कहा जाता हैं पाचन संस्थान, यकृत, प्लीहा, गर्भाशय, आदि अंगों की शुद्धि विरेचन कर्म के द्वारा किया जाता है। विरेचक द्रव्यों में पृथ्वी महाभूत प्रधान होते है। तीक्ष्ण, सर, आदि गुण युक्त द्रव्य होते है। जयपाल व जमालगोटा श्रेष्ठ विरेचक द्रव्य माना जाता है। निम्न प्रकार से भी विरेचन कराया जा सकता है।

1. न शोषण होने योग्य द्रव्यों का परिणाम बढ़कार।
2. जल का शोषण रोक कर।
3. क्षुद्र एवं बृहद् आंतों की गति बढ़ाकर।
4. सीधे नर्वस सिस्टम पर क्रिया करके।

पित्त जन्य विकारों से उत्पन्न रोगों में एवं उदर रोगों में, कृमि रोगों में, मूत्राघात, बालक वृद्ध और गर्भिणी में विरेचन कर्म नहीं कराना चाहिए। शरद ऋतु एवं बसंत ऋतु में देह शुद्धि के लिए विरेचन कर्म करवाना चाहिए। विरेचन से शरीरगत् दोष एवं रोग बाहर निकल जाते हैं अग्नि, दोष, धातु, मल साम्य अवस्था में रहकर इन्द्रियों को बल प्रदान करते है एवं आयु की वृद्धि होती है।

2. **बस्ती कर्म** :– गुदा मार्ग के द्वारा औषधि द्रव्यों को पानी में क्वाय बनाकर शरीर में अंदर पहुंचाने की क्रिया को बस्ती कर्म कहा जाता है। बस्ती कर्म दो प्रधान वर्गों में बांटा गया है।

1.**अस्थापन या निरूह बस्ती** :– इसमें रूक्ष द्रव्यों से सिद्ध द्रव्य का उपयोग रोहण कर्म के लिए किया जाता है। रोहण कर्म करने को निरूह बस्ती कहा जाता है। निरूह को अस्थापना भी कहते हैं चूंकि यह आयु का स्थाना या स्थिरीकरण करता है। इसलिए इसे अस्थापन कहते है। इसमें मधु एवं तेल का भी प्रयोग किया जाता है।

3. **अनुवासन बस्ती** :– इस बस्ती में स्निग्ध द्रव जैसे तेल, घृत आदि का प्रयोग किया जाता हैं यह शरीर में स्थित रहकर दोषों का निर्हरण करता है। बस्ती का अर्थ पाश्चात्य में (एनिमा) है।

बस्ती कर्म के दो अन्य भेद है।

1. **अधोबस्ती** :– जिससे मुद्रा मार्ग से औषधि प्रविष्ठ कराई जाती है।
2. **उत्तरबस्ती** :– जिसमें मूत्र मार्ग एवं स्त्रियों के योनी मार्ग से औषधि प्रविष्ट कराई जाती है।
3. **नस्य कर्म या सिरो विरेचन** :– नासिका के छिद्रो से औषध चूर्ण सुंघना, औषध सिद्ध द्रवों को नासिका में बूंद–बूंद डालना नस्य कर्म कहलाता है।

पर्याय – नस्य कर्म नस्यः कर्म शिरोविरेचन, मूर्धविरेचन नस्तः–ये परस्पर पर्यायवाची शब्द है।

जत्रु के ऊपर के अंगों में होने वाले विकारों में विशेषकर नस्य का प्रयोग किया जाता है।क्योंकि नासिका शर के द्वार है और इस द्वार से प्रविष्ट औषध शिर में व्याप्त होकर ऊर्ध्वजत्रुगंत विकारों को दूर करती है। बाहुशीर्षगत शूल में भी नस्य का प्रयोग एक सफल उपचार है। शिर, ग्रीवा, स्कन्ध, नेत्र, नासिका, मुख, दांत आदि के रोगों में, स्वर भेद में, वाग्ग्रह और हकलाने में नस्य का प्रयोग का विधान बतलाया गया है।

अजीर्ण, भूख, प्यास, सिर रोग, दंत रोग, मुख रोग, मस्तिष्क जन्य विकृति में नस्य कर्म किया जाता है।

सभी प्रकार के नेत्र रोग सिर रोग, दांत रोग, मुख रोग, मस्तिष्क जन्य विकृति में नस्य कर्म किया जाता है।

नस्य के लिए छोटी पीपर, मरिच, सरसों, नेपाली–धनिया जीरा, अजवाइन हरिद्रा सैंधव घी तेल का प्रयोग किया जाता है।

रक्तमोक्षण

परिचय – शरीर के किसी स्थान–विशेष से रक्त निकालना रक्त मोक्षण कहलाता हैं रकत शरीर का एक अतिमहत्वपूर्ण धतु है, जिसके दूषित हो जाने पर अनेक प्रकार के रोगों के उत्पन्न होने की संभावना हो जाती है। अतः रक्त के दुष्ट होने पर उसका शरीर से बाहर निकालना आवश्यक हो जाता है, जिससे ततजन्य रोगों के होने की आशंका निर्मूल हो जाए। स्वास्थ्य–रक्षण और व्याधि–पिरमोक्षण इन दोनों दृष्टियों से रक्त–पित्तनाशक चिकित्सा में विरेचन उपवास तथा रक्तमोक्षण करने का निर्देश दिया है।

पर्याय :– रक्तावसेचन, रक्तनिर्हरण, शोणितमोक्षण, रक्त हरण–वे परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं गृध्रसी आदि रोगों में रक्तमोक्षण से सद्यः लाभ होते देखा जाता है। रक्त मोक्षण का अर्थ होता है, धमनी एवं शीरा में बहने वाले रक्त को शरीर से बाहर निकालना। विभिन्न प्रकार के रोग जैसे चर्म रोग, रक्त रोग में रक्त का विस्त्रावण किया जाता है।

रक्त विस्त्रावण यंत्र :– जलौका, श्रृंगतुम्बी पतली नलिकाएं आदि।

पंचकर्मो का संक्षिप्त परिचय

वमन कर्म – जिस चिकित्सा कर्म में कै अथवा उल्टी लाने वाली औषधियों का प्रयोग करके उदर की शुद्धि की जाती है, वह वमन कर्म कहलाता है। इसका प्रयोग शरद ऋतु बसन्त ऋतु और वर्षा काल से प्रारंभ में करना चाहिए।

उपयोग :– वमन क्रिया से अतिनिद्रा, तन्द्रा, मुख से दुर्गंध आना, शरीर में खुजली होना, ग्रहणी रोग तथा विष का प्रभाव नष्ट होते हैं। वमन का प्रयोग बिना सोंचे–समझे किसी भी व्यक्ति पर नहीं किया जा सकता । इस प्रकार के रोगी का चयन करने के लिए निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए।

योग्य व्यक्ति –जो व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से शक्तिशाली हो तथा जिसके शरीर में कफ दोष प्रकुपित होने पर जिसे किसी प्रकार का उपद्रव या तकलीफ न होती हो। जो धैर्यशील स्वभाव वाला हो। जो पित्तज और कफज रोगों से पीड़ित हो। इसके अतिरिक्त निम्न रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के लिए वमन चिकित्सा का प्रयोग उपयोग है।

जी मिचलाना, किसी प्रकार का विष का प्रभाव, मन्दाग्नि, अरूचि, श्लीपद (फीलपांव), हृदय रोग, शरीर में गिल्टी या गांठे होना, कुष्ठ जैसे भयानक चर्म

रोग, विसर्प (एक प्रकार का चर्म रोग) मूत्र रोग, अपच, चक्कर आना, टी.बी. का गाठें, खांसी, दमा, नाक की हड्डी बढ़ना, पीनस, किसी अंग में वृद्धि, मिर्गी, ज्वर, उन्माद (पागलपन) खूनी दस्त, कान का बहना, टांसिल्स, नाक तालु व होंठ पकना तथा चर्बी बढ़ने से उत्पन्न रोग।

अयोग्य व्यक्ति –

उपरोक्त रोगों से युक्त होने पर भी वृद्ध लोगों, बालकों, बहुत दुबले–पतले, गर्भिणी स्त्री और बहुत मोटे व्यक्ति के लिए वमन चिकित्सा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जिनका शरीर रूक्ष (शुष्क) प्रवृत्ति का हो, जिन्होंने निरूद्ध बस्ती का प्रयोग किया हो, मद्य सेवन से जो नशे में हो, जिन्हें भूख लगी हो, जिन लोगों को बहुत मुश्किल से वमन होती हो तथा जो इस चिकित्सा से डरते हो, उनके लिए भी वमन कर्म प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। जो व्यक्ति तिमिर (मोतियाबिन्द), गुल्म, उदर रोगों, नाक, मुंह आदि ऊपरी अंगों से रक्तस्त्राव, अंधापन, नेत्रपीड़ा आदि चक्षु रोग, पेट में कीड़े या उनसे उत्पन्न रोगों तथा ऊंचा बोलने से गला बैठना जैसे रोगों से पीड़ित हो, तथा जो केवल वायुकारक रोगों से पीड़ित हो उन्हें वमन चिकित्सा नहीं देनी चाहिए।

उपरोक्त लक्षण होने पर भी यदि कोई व्यक्ति विष से प्रभावित हो गया हो अथवा उसे बहुत अपच हो गई हो या शरीर में कफ अधिक कूपित हो गया हो तो उसे मुलहठी के काढ़े से हल्का वमन दिया जा सकता है। किन्तु जो बालक हो, बहुत दुर्बल और कोमल प्रकृति का हो तथा डरपोक स्वभाव का हो उसके लिए इस कर्म का प्रयोग बिलकुल नहीं करना चाहिए।

पूर्व कर्म :– वमन कर्म के प्रयोग से पहिले रोगी के शरीर मे कफ आदि दोषों को उभारना चाहिए। इसके लिए उसे दूध तथा अन्य कफवर्द्धक पदार्थो का सेवन कराया जाता है। इससे शरीर में स्थित कफ दोष उतक्लिष्ट हो जाएगा। इन दोषो को आसानी से बाहर निकालने के लिए वमन से पहले स्नेहन और स्वेदन करना चाहिए।

औषधि द्रव्य :– वमन के लिए प्रयोग की जाने वाली औषधियों में सेधा नमक और शहद का प्रयोग अवश्य किया जाता है। इसमें प्रयुक्त औषधियां अस्वाद व अरूचिकर होती है। जिससे उल्टी आराम से हो जाती है। जिन रोगियों में कफ दोष का प्रकोप अधिक है। उनके लिए कटु, तीक्ष्ण और गर्म तासीर, उष्ण वीर्य वाले पित्त दोष का प्रकोप अधिक होने पर मधुर व शीतवीर्य वाले तथा वायु

और कफ दोषों का प्रकोप होने पर मधुर लवण व अम्ल रस वाले तथा उष्णवीर्य द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। मदनफल, मुलहठी, नीम, जीमूत, पिप्पली, इलायची तथा कड़वी तोराई–ये प्रमुख वमन द्रव्य हैं।

जाता है और आधा शेष रहने तक पकाते हैं।

मात्रा :– वमन के लिए प्रयुक्त क्वाथ की 7 लीटर, 4.5 लीटर व 1.5 लीटर मात्रा क्रमशः उत्तम, मध्यम

तथा निकृष्ट है। यदि कल्क अथवा चूर्ण का प्रयोग करना हो तो 150 ग्रा., 100ग्रा. तथा 50ग्रा. क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट मात्राएं है। कल्क या चूर्ण में घी और शहद मिला लेना चाहिए। औषधियों की मात्रा रोगी की आयु और रोग की प्रकृति के अनुसार निश्चित की जाती है।

वमन विधि :– वमन के लिए रोगी एड़ी के बल घुटने ऊपर करके बैठता है। तथा गले में अंगुली डालकर वमन कराते है। जिससे ग्रहण की हुई औषधि, पित्त और वायु क्रमशः बाहर निकलता है। वमन के पश्चात् यदि हृदय गले और सिर में हल्कापन और शुद्धि महसूस हो, पाचाग्नि तीव्र हो शरीर में हल्कापन अनुभव हो तथा कफ और पित्त दोष शांत हो जाएं तो समझा जाता है कि वमन कर्म ठीक प्रकार से सम्पन्न हो गया है। यदि वमन का वेग 8 बार हो तो यह उत्तम माना जाता है। 6 बार हो तो मध्यम कोटि का तथा 4 बार हो तो निकृष्ट कोटि का माना जाता है।

असम्यक् प्रयोग :– कई बार वमन क्रिया आवश्यकता से कम और कभी आवश्यकता से अधिक हो जाती है। इसे असम्यक् प्रयोग कहते है।

यदि वमन क्रिया के पश्चात् मुंह में अधिक लार आए, हृदय प्रवेश में कठोरता अनुभव हो तथा शरीर पर खुजली और लाल चकत्ते दिखाई पड़े तो समझना चाहिए कि आवश्यकता से कम वमन हुए है।

यदि इस क्रिया के पश्चात् रोगी की औषधि प्यास, हिचकी, डकार और मूर्च्छा आ जाए जिव्हा, मुख से बाहर निकल आए, आंख की पुतली खुली हुई और एक जगह स्थिर रहें, ठोड़ी की हड्डी अपने स्थान से खिसक जाए गले में पीड़ा हो तथा वमन में रक्त आए और अधिक थूकें आए तो समझना चाहिए कि आवश्यकता से अधिक वमन हुए है। इन उपद्रवों की चिकित्सा के लिए चिकित्सक को मृदु विरेचन (दस्त के लिए हल्की दवाई) स्वेदन, स्नेहन आदि विभिन्न उपायों को प्रयोग करना चाहिए।

पश्चात् कर्म (तथ्य) :– वमन कर्म के पश्चात् जब रोगी को भूख महसूस

हो तो उसे जंगली जानवरों (जैसे हरिण एण, गाकर्ण, खर, चातक आदि) के मांस रस या सब्जियों के जूस के साथ मूंग पौष्टिक व शलि चावल खाने कि लिए देने चाहिए।

परहेज (अपथ्य) :– रोगी को वमन क्रिया के एक दिन बाद तक ठण्डे पेय–पदार्थो का सेवन, शारीरिक व्यायाम, मैथुन, क्रोध और घी या तेल से मालिस नहीं करनी चाहिए। यह भी घ्यान रखना चाहिए कि उसे अपचन हो।

2. **विरेचन** (Puragation Therapy) :– जब आंतो में स्थित मल पदार्थ को गुदा द्वार से बाहर निकालने के लिए औषधियों का प्रयोग किया जाता है, तो इस क्रिया का विरेचन या संशोधन कर्म कहते है। इसका प्रयोग सामान्यतः शरद ऋतु और बसंत ऋतु में किया जाता है। परंतु यदि रोग गंभीर हो, तो किसी भी ऋतु में इसका प्रयोग किया जाता सकता है।

उपयोग :– सामान्यतः शरीर में शुद्धि लाने के लिए विरेचन क्रिया का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त पित्त का प्रकोप, आम (आधा पचा अथवा बिल्कुल नहीं पचा भोजन) से उत्पन्न रोग अफरा और कुष्ठ जैसे भयंकर चर्म रोगों को दूर करने के लिए भी विरेचन कर्म का प्रयोग किया जाता है। इसके सम्यक प्रयोग से इन्द्रियों में शक्ति बुद्धि में ताजगी पाचकाग्नि में वृद्धि तथा रक्त रसादि धातुओं और शारीरिक बल में स्थिरता आती है।

वमन कर्म के समान ही विरेचन के लिए भी कुछ बातों का ध्यान में रखकर ही रोगी का चयन किया जाता है।

योग्य व्यक्ति :– जीर्ण ज्वर, विषाक्तता, वातज रोग, भगन्दर, बवासीर, रक्ताल्पता, जलोदर सहित अन्य उदर रोग, गांठे, हृदय रोग, अरूचि, योनि संबंधी रोग, प्रमेह, गुल्म, घाव, बड़े फोड़े, छर्दि, पेचिस, कुष्ठ जैसे भयंकर चर्म रोग, फफोले, आंख, कान, नाक, शिर, मुख, गुदा तथा लिंग के रोग, प्लीहा में सुजन, पेट में कीड़े व तत्सबंधी रोग, क्षार के सेवन उत्पन्न विकार, शूल, मूत्र, में रूकावट तथा वायु का प्रकोप– इस सब रोगों से पीड़ित व्यक्ति के लिए विरेचन कर्म लाभप्रद है।

अयोग्य व्यक्ति :– बालक वृद्ध दुर्बल व कोमल प्रकृति के लोग, गर्भिणी स्त्री, काम से पीड़ित, विरेचन कर्म से भयभीत होने वाले, अधिक चलने से थके हुए, स्थूल शरीर वाले तृषा से पीड़ित, मद्य के नशे वाले ज्वर की पहली अवस्था में, नवप्रसूता (वह स्त्री जिसने समय पूर्व ही हुए बच्चे को जन्म दिया हो) दुर्बल

पाचन–शक्ति वाले, जिसके शरीर में शस्त्र का घाव हो, तथा जिसका शरीर रूक्ष (शुष्क) प्रकृति का हो इस प्रकार के व्यक्तियों के लिए विरेचन कर्म का प्रयोग नहीं किया जाता।

कोष्ठ की प्रकृति – सभी मनुष्यों के कोष्ठ की प्रकृति एक सी नहीं होती। ये कोष्ठ तीन प्रकार के माने गये है।

1. **मृदु कोष्ठ** – कुछ व्यक्तियों में पित्त दोष की अधिकता के कारण बहुत शीघ्र ही विरेचन हो जाता है। ऐसे व्यक्ति मृदु कोष्ठ वाले माने जाते हैं। विरेचन कर्म के लिए इन व्यक्तियों को मृदु द्रव्यों का तथा कम मात्रा में सेवन करवाना चाहिए। दूध, जल, तेल या द्राक्षा जैसी मृदु औषधियाँ इनके लिए उपयोगी मानी जाती है।

2.**मध्यम कोष्ठ** – जिनके कोष्ठ में कफ दोष की प्रधानता होती हैं, उनके विरेचन कर्म के लिए माध्यम बल वाली (न अधिक मृदु और न अधिक तीव्र) औषधियों की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्ति मध्य कोष्ठ वाले माने जाते है। इनकी विरेचन क्रिया के लिए त्रिवृत, तिक्ता और राज वृक्ष जैसी औषधियों का प्रयोग किया जाता है।

3.**क्रूर कोष्ठ** :– जिनके कोष्ठ में वायु दोष की प्रधानता होती है तथा विरेचन क्रिया बहुत कठिनाई से हो पाती है, वे क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्ति माने जाते हैं। इनकी विरेचन क्रिया के लिए स्नुही क्षीर, हेम क्षीरी तथा दन्तीफल जैसे औषधियाँ प्रयोग में लाई जाती है।

अतः विरेचन क्रिया से पहले रोगी के कोष्ठ की प्रकृति को जानकर ही औषधियों का चयन किया जाता है।

पूर्व कर्म :–

विरेचन क्रिया से पहले रोगी को स्नेहन, स्वेदन और वमन करवाना भी अत्यावश्यक है। यदि वमन क्रिया नहीं होगी तो आमाशय में स्थित कफ, ग्रहणी (छोटी आंत का ऊपरी भाग) में जाकर रूकावट पैदा करेगा। इससे विरेचन ठीक प्रकार न होकर अजीर्ण, शरीर में भारीपन व पेचिश जैसे उपद्रव होंगे। यदि किसी कारणवश रोगी के लिए वमन क्रिया अनुकूल न हो, तो पाचन द्रव्य देकर उदर में स्थित कफ और आम का पाचन किया जा सकता है। तत्पश्चात् स्नेहन और स्वेदन क्रियाएं की जाती है। इससे विरेचन क्रिया ठीक प्रकार होती है।

औषधि द्रव्य :–

विरेचन के लिए मुख्यतया अगस्त्य, मदनफल, तालीसपत्र, कड़वा पटोल, सेंधा नमक, कज्जली (पारद और गंधक को मर्दित कर तैयार किया गया बहुत बारीक काला चूर्ण) और गर्म जल का प्रयोग किया जाता है। वैसे रोगी की प्रकृति के अनुसार निम्नलिखित औषधि–द्रव्यों का प्रयोग किया है।

कफ प्रकृति :– त्रिफला (आँवला, हरड़ और बहेड़ा) क्वाथ या गोमूत्र के साथ त्रिकटु (सोंठ पिपली और काली मिर्च) का चूर्ण

वात प्रकृति :– खट्टे फलों के रस अथवा जंगल पशुओं शारभ, हरिण, काला हरिण, खरगोश शाम्बर आदि जानवर) के मांस रस के साथ त्रिवृत् चूर्ण।

पित्त प्रकृति :– दाक्षा के क्वाथ के साथ त्रिवृत चूर्ण।

चरक संहिता के अनुसार त्रिवृत, त्रिफला, जमालगोटा, नीलिनी, शिकाकाई, वच, कम्पिल्लक, इन्द्रायण, कपीलू, अमलतास, द्राक्षा, बड़ा जमालगोटा तथा अम्लबेंतस विरेचन कर्म के लिए उपयुक्त औषधि द्रव्य है।

मौसम के अनुसार इन औषधियों में परिवर्तन किया जा सकता है। शीघ्र विरचन के लिए सभी रोगियों को एरण्ड का तैल, त्रिफला क्वाथ, शहर या दूध (प्रकृति के अनुसार) के साथ दिया जा सकता है।

मात्रा :–

क्वाथ की मात्रा 100 मि.लि. व 25 मि.लि. तथा चूर्ण की मात्रा 50 ग्राम 25 ग्राम तथा 12 ग्राम क्रमशः अधिकतम मध्यम व न्यूनतम है।

सम्यक् विरेचन :–

ठीक प्रकार से विरेचन क्रिया में रोगी क्रमशः पुरीष, पित्त, ग्रहण की गई औषधि और कफ का विसर्जन करता है। विरेचन के पश्चात् यदि रोगी शरीर में हल्कापन ताजगी और संतुष्टि महसूस करता है तथा वायु का अनुलोमन होता है, तो समझना चाहिए कि विरेचन क्रिया ठीक प्रकार से हुई है।

विचेरक क्रिया के परिणामस्वरूप यदि 30 बार विरेचन हों तो उत्तम माना जाता है। 20 बार और 10 बार विरेचन हो तो उन्हें क्रमशः मध्यम और निकृष्ट कोटि का माना जाता है।

असम्यक् विरेचन :–

कई बार विरेचन क्रिया ठीक प्रकार न होने से विरेचन आवश्यकता से कम अथवा आवश्यकता से

अधिक भी हो जाते है। इन स्थितियों को असम्यक् विरेचन माना जाता है।

न्यून विरेचन :–

आवश्यकता से कम विरेचन होने पर नाभि प्रदेश में जकड़ाहट, पेट में शूल, पुरीष व वायु के विसर्जन में रूकावट, खुजली, लाल चकते व शरीर में भारी पन महसूस होता है।

ये लक्ष्ण उत्पन्न होने पर रोगी को पाचक औषधियाँ व स्नेहन चिकित्सा दी जाती है। तत्पश्चात्

स्निग्ध औषधियाँ से विरेचन दिया जाता है। इससे उपरोक्त उपद्रव शांत हो जाते हैं रोगी की पाचकाग्नि तीव्र होती है। तथा शरीर हल्का हो जाता है।

अति विरेचन :–

आवश्यकता से अधिक विरेचन हाने पर रोगी को मूर्च्छा शूल तथा गुदभ्रंश हो जाता है। उसके पुरीष के साथ कफ का स्त्राव बहुत अधिक मात्रा में होता है। पुरीष का रंग मांस धोए हुए पानी के समान, वसा अथवा जल के सदृश होता है। पुरीष के साथ–साथ रक्त का विरेचन भी होता है।

ये सब उपद्रव होने पर शरीर पर शीतल जल डाला जाता हैं रोगी के नाभि प्रदेश पर आम की छाल में दही या सौवीरक मिलाकर तैयार किया कल्क लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त चावल की ठण्डी धोवन में शहद मिलाकर रोगी को दिया जाता है। इससे हल्का वमन होता है। इन उपायों से अति विरेचन के सभी उपद्रव शांत हो जाते है।

पश्चात् कर्म व सावधानियाँ :–

विरेचन के पश्चात् रोगी को ऐसे स्थान में रखें जहाँ वायु तेज न हों। रोगी को यह निर्देश भी दिया जाता है कि वह मल मूत्र आदि स्वाभाविक वेगों का अवरोध न करें और न ही दिल के समय सोये। ठण्डे जल का स्पर्श नहीं करें तथा बार–बार उष्ण जल का पान करें। रोगी की आंखें शीतल जल से धोई जाती है। सूंघने के लिए सुगंधित द्रव्य तथा चबाने के लिए पान दिया जाता है। शरीर पर कुमकुम चंदन केसर कस्तूरी कपूर व चन्दन का लेप किया जाता है।

पथ्य– विरेचन के पश्चात् रोगी को बकरी का दूध अथवा बकरी, विष्किर पक्षियों व हिरण के मांस का रस तथा शीतल व संग्राहि (कब्ज कारक) पदार्थ खाने को देने चाहिए। रात्रि के समय उसे पाचन द्रव्य देने चाहिए।

अपथ्य– विरेचन क्रिया किये हुए रोगी को बहुत अधिक वायु व शीतल जल का सेवन नहीं करना चाहिए। उसे घी या तेल की मालिश अपच शारीरिक व्यायाम व मैथुन से परहेज रखना चाहिए।

3. **नस्य कर्म अथवा शिरो विरेचन** :– सिर, नेत्र, कान, नाक व गले के रोगों में जो चिकित्सा नाक द्वारा ली जाती है, वह नस्य अथवा शिरोविरेचन कहलाती है। उसे नावन नाम से भी जाना जाता है। नस्य कर्म के मुख्यतः दो भेद है :

1. रेचन अथवा कर्षक नस्य
2. स्नेहन अथवा बृंहण नस्य

1. **रेचन अथवा कर्षण नस्य** :– यह नस्य शिर से कफ आदि दोषों को बाहर निकालता है। इसके लिए तीक्ष्य प्रभाव वाले तैलों अथवा तीक्ष्य औषधियों के रस या क्वाथ से पकाये गये तैल, अथवा, औषधियों के रस या चूर्ण का प्रयोग किया जाता है। रेचन नस्य का प्रयोग कफज ऊर्ध्वजत्रु रोगों (नाक, कान, गला व सिर के रोगों) शिर शूल पीनस व अरूचि में किया जाता है। इस प्रकार के नस्य में औषधि की मात्रा प्रति नासा में 8.6 व 4 बूंदे क्रमशः उत्तम मध्यम व निकृष्ट कोटि की मानी जाती है। यह नस्य भी दो प्रकार का होता है।

क. अवपीडन नस्य – जिसमें औषधियों के कल्क को निचोड़कर (अवपीडन करके) उनका रस नाम में डाला जाता है। उसे अवपीडन नस्य कहते है। इसका प्रयोग गले के रोगों अतिनिद्रा सन्निपात वायु पित्त और कफ इन तीनों दोषों का सम्मिलित प्रकोप विष ज्वर मनोविकारों और कृमि रोगों में किया जाता है।

ख. प्रधमन नस्य – जिस चिकित्सा में औषधियों के चूर्ण को फूंक मारकर नाक में डाला जाता है, उसे प्रधमन नस्य कहते है। इसके लिए एक छः अंगुल लम्बी और रोगी की अंगुली कें समान मोटाई वाली दो मुखी पाईप का प्रयोग किया जाता है। तीक्ष्ण चिकित्सा होने के कारण इसका प्रयोग मूर्च्छा तथा दोषों के बहुत अधिक प्रकोप होने पर किया जाता है। इसके लिए योग्य चिकित्सक का होना आवश्यक है।

औषधि द्रव्य – अपामार्ग के बीच पिप्पली, मरिच, विडंग, शोभाजन, सरसो, जीरा, पीलू छोटी इलायची तुलसी मख, शिरीष के बीज लहसुन दोनों हल्दी सैन्धव नमक व सोंठ नस्य के लिए उपयुक्त द्रव्य माने गये है।

औषधीय योग– रेचन नस्य के लिए तैयार की गई औषधि में तीक्ष्ण द्रव्य एक शाण हींग एक यव सेंधा नमक एक माशा (1ग्राम) दूध 8 शाण, जल 3 कर्ष (35मि.ली.) व मधुर द्रव्य कर्ष (12ग्राम) की मात्रा मे चाहिए।

2.स्नेहन अथवा बृंहण नस्य :– यह नस्य शिर नाक आदि ऊपरी अंगों में स्निग्धता लाता है। इसमें तैल अथवा मधुरगण की औषधियों के रस क्वाथ

कल्क अथवा चूर्ण से पकाये गये तैल या घी का प्रयोग किया जाता है। इस नस्य का उपयोग सिर, नाक व नेत्र रोगों में सूर्यावर्त अर्द्धावभेदक दांत बाहु कन्धे व मन्या के रोगों बल की कमी मुख शोध (मुंह का सुखना) कर्णनाद (कान के अंदर आवाज होना) वातिक और पैतृक रोगों समय से पहले बालों का सफेद होना तथा बाल गिरना इन रोगों में किया जाता है।

इस नस्य में औषधि की मात्रा प्रति नासा में 8–4 व 1 शाण क्रमशः उत्तम मध्यम व निकृष्ट कोटि की मानी गई है। रोग अथवा दोषों के अनुसार इन नस्य का प्रयोग दिन में दो या तीन बार तक किया जा सकता है। तथा आवश्यकतानुसार एक, दो, पांच या सात दिन के बाद पुनः इस क्रिया को दोहराया जा सकता है। स्नेह नस्य भी दो प्रकार का है।

क. मर्श – इसमें औषधि की मात्रा एक शाण बताई गई है।

ख. प्रतिमर्श – इसमें औषधि की मात्रा 2 बिन्दु बताई गई है।

नस्य योग्य आयु – 8 वर्ष से अधिक और 80 वर्ष से कम आयु वाले रोगियों में नस्य कर्म का प्रयोग किया जा सकता है।

अयोग्य व्यक्ति – वृद्ध, बालक, गर्भिणी स्त्री, विष से ग्रस्त अजीर्ण (अपच) व नया–नया जुमान हुआ हो, जिसने उपवसा रखा हों, जिस रोगी ने बस्ति कर्म का प्रयोग किया हो तथा जिसने स्नेहपान अथवा आसव का पान किया हो उनके लिये नस्य कर्म का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वर्षा होने पर, भोजन के एकदम बाद तृषा, क्रोध व शोक होने पर तथा मल–मूत्र आदि वेगों को रोकने पर भी नस्य का प्रयोग निषिद्ध है।

उपयुक्त समय :– विभिन्न दोषों के प्रकोप के अनुसार ही नस्य के लिए अलग–अलग समय का विधान किया गया है। कफ दोष की अधिकता होने पर नस्य का प्रयोग पूर्वाह्ण (दिन के 12 बजे) तथा वायु दोष की अधिकता होने पर अपराह्ण (दिन के 12 बजे से शाम 4 बजे तक) के समय करना चाहिए। रोग की तीव्रता होने पर रात्रि के समय भी नस्य दिया जा सकता है।

नस्य विधिः– नस्य के लिए रोगी को वायु और धूल से रहित स्थान पर लिटाया जाता हैं नस्य सेपूर्व दांतों को अच्छी तरह ब्रश कर लेना चाहिए तथा धुम्रपान द्वारा रोगी के तालु और गले का स्वेदन कर देना चाहिए। तब रोगी को पीठ के बल लिटाया जाता है। उसका सिर पीछे की ओर थोड़ा खिंचा हुआ हाथ व टांगे फैली हुई हो तथा आंखे कपड़े से ढकी हो उसके नाक के अग्रभाग थोड़ा ऊपर उठाकर नासारन्ध्रों में औषधि डाली जाती है।नाक में डाला जाने

वाला तैल या औषधि गुनगुनी होनी चाहिए। यह औषधि उचित मात्रा में ड्रापर अथवा रूई की सहायता से बिना किसी व्यवधान में लगातार डालनी चाहिए। इस समय न तो रोगी का सिर हिलना चाहिए और न ही उसे बोलना, हंसना, छीकना व क्रोध ही करना चाहिए। अन्यथा नाक डाली गई औषधि कण्ठनली या अन्ननली में चली जाएगी। इससे रोगी को खांसी, जुकाम, तथा सिर व नेत्र के रोग हो सकते है। इन सावधानियों से नाम में डाली गई औषधि सांस द्वरा ऊपर की ओर खीचनी चाहिए। यह औषधि मुंह में आ जाएगी। इस बात का सूचक है कि औशधि की मात्रा उचित हैं मुंह में आई औषधि को थूक देना चाहिए। जब नासारन्ध्र में डाली गई औषधि नाके के ऊपर वाले भाग में पहुंच जाए तो उसे 5,7 या 10 तक गिनती गिगनने की अवधि तक ही अन्दर रखे। तत्पश्चात् नाक में स्थित द्रव को नाक अथवा मुंह द्वारा बाहर निकाल दे। तब पीठ के बल ही 100 गिनने तक की समयावधि के बीच लेटे रहें। इस बीच रोगी को सोना नहीं चाहिए। रोगी को चिंता, क्रोध आदि मानसिक वेगों से भी बचे रहना चाहिए।

पश्चात कर्म – नस्य क्रिया के पश्चात् रोगी को धुम्रपान और कवलग्रह (मुंह में औषधियां भरकर रखना व कुल्ला करना) करवाया जाता है तथा रोगी के दोनों नासारन्ध्रों में घी डाला जाता है।

सम्यक् नस्य – नस्य कर्म के पश्चात् यदि रोी, मन और मस्तिष्क के हल्कापन, स्त्रोतों की शुद्धि, चित्त की प्रसन्नता, इन्द्रियों में स्फूर्ति और रोग का नाश सुख अनुभव करता हैं, तो समझना चाहिए नस्य कर्म ठीक प्रकार से हो गया है।

असम्यक् नस्य – नस्य द्वारा आवश्यकता से कम अथवा अधिक दोषरेचन व स्नेहन होने की स्थिति को असम्यक् नस्य कहा गया है।

न्यून नस्य – यदि रोगी नस्य के पश्चात शरीर में खुजली, स्त्रोतों में भारीपन, शरीर में चिपचिपाहट और सर से अत्यधिक कफस्त्राव आदि लक्षणों से ग्रस्त हो, तो समझना चाहिए कि नस्य क्रिया द्वारा दोषों का रेचन आवश्यकता से कम हुआ है। ऐसी स्थिति में रोगी को कफ शामक चिकित्सा दी जाती है।

अति नस्य – नस्य के पश्चात् यदि मस्तुलुंग (मस्तिष्क का एक द्रव) का स्त्राव हो, वायु प्राकुपित हो, चक्कर आये या सिर में शून्यता (सुन्नता) महसूस हो, तो समझना चाहिए कि दोषों का रेचन आवश्यकता से अधिक हो गया है। ऐसी स्थिति में वायु शामक चिकित्सा दी जाती है।

यदि मुंह से लार टपकना, सिर में भारीपन, इन्द्रयों में शिथिलता आदि लक्षण प्रकट हो तो समरूना चाहिए कि नस्य द्वारा स्नेहन, आवश्यकता से अधिक हो गया है। ऐसी स्थिति में रूक्षण चिकित्सा, (जो स्त्रोतों में रूकावट पैदा न करें) एवं भोजन दिया जाता है।

4. अनवासन बस्ति (A Type of Enema)

जिस चिकित्सा कर्म में गुदामार्ग द्वारा औषधि प्रविष्ट कराई जाती है, उसे बस्त कर्म कहते है। जिस बस्ति कर्म में केवल घी, तैल, स्नेह आदि द्रव्यों अथवा क्वाथ आदि के साथ अधिक मात्रा में स्नेह पदार्थों का प्रयोग किया जाता है, उसे अनुवासन अथवा स्नेहन बस्ति कहा जाता है। इसे मात्रा बस्ति भी कहत है। क्योंकि यह बस्ति 100 मि.ली. (2पल) अथवा 50 मि.ली. (1 पल) की निश्चित मात्रा में दी जाती है।

उपयोग – इसके प्रयोग से कोष्ठ की शुद्धि के साथ–साथ स्निग्धता और स्थानीय कोमलता भी आती है। अनुवासन बस्ति से शरीर में मोटापा आता है शक्ति, स्वास्थ्य व आयु में वृद्धि तथा रंग में निखार आता है।

योग्य व्यक्ति – जिनके शरीर में रूक्षता हो जिनकी पाचकाग्नि तीव्र हो तथा जो केवल वातज रोगों से पीड़ित हों उन्हें अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

अयोग्य व्यक्ति – जो कुष्ठ जैसे चर्म रोगों, मेहादि, मूत्र रोगों, मोटापा, उदर रोगों, अजीर्ण, अरूचि, तृषा, श्वास (दमा), खांसी, क्षय उन्माद, शोष व भय से पीड़ित है। उन्हें अनुवासन बस्ति नहीं देनी चाहिए।

उपयोग – अनुवासन बस्ति से शरीर में मोटापा आता है शक्ति, स्वास्थ्य व आयु में वृद्धि तथा रंग में निखार आता है।

उपयुक्त समय – शीत और बसंत ऋतु में अनुवासन बस्ति दिन के समय तथा ग्रीष्म वर्षा और शरद ऋतु में रात्रि के समय देनी चाहिए।

पूर्व कर्म :– बस्ति–पात्र की तैयारी

बस्ति के पात्र में लगा नेत्र सोने चांदी आदि धातु अथवा लकड़ी, बांस, दांत, सींग या मणि से बना हो। यह नेत्र मुलायम और गाय की पूछ जैसा होना चाहिए। ऊपर से इसकी मोटाई रोगी के हाथ के अंगूठे जितनी ओर नीचे से छोटी अंगुली जितनी होनी चाहिए। रोगी की आयु के अनुसार इसकी लम्बाई तथा भीतर का छिद्र भी भिन्न–भिन्न नाप का होता है यथा :

रोगी आयु	लम्बाई	छिद्र की मोटाई
1 से 6 वर्ष की आयु	6 अंगुल	मूंग के बराबर
6 से 12 वर्ष की आयु	8 अंगुल	मटर के बराबर
12 वर्ष से अधिक	12 अंगुल	बेर के बराबर

औषधि डालने के लिए थैली का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए चमड़े का अथवा किसी जानवर के मूत्राशय का प्रयोग किया जाता है। इस थैली के साथ नेत्र का जोड़ा जाता है। वैसे आजकल बाजार में तैयार पात्र व साथ में जुड़े मिलते है। इनका प्रयोग सुविधापूर्वक किया जा सकता है।

2. **रोगी की तैयारी** – अनुवासन बस्ति से 7 दिन पूर्व विरेचन देकर रोगी के शरीर की शुद्धि करनी चाहिए। 7 दिन बाद जब उसका शरीर शुद्ध हो जाए तो पहले स्नेहन के लिए मालिश करें। फिर गर्म जल से रोगी का स्वेदन करना चाहिए। स्वेदन के पश्चात् रोगी को भोजन देना चाहिए। यह भोजन न अधिक स्निग्ध होना चाहिए और न अधिक रूक्ष। क्योंकि अधिक रूक्ष। अध्का स्निग्ध भोजन और अनुवासन बस्ति जो स्वयं स्निग्ध है दोनों से स्निग्धता की मात्रा दुगुनी हो जाएगी। परिणामतः रोगी को मद व मूर्च्छा हो सकती है। इसके विपरीत अधिक रूक्ष भोजन से रोगी की शक्ति व वर्ण में क्षीणता होगी। अतः सामान्य भोजन देकर रोगी को थोड़ा भ्रमण करायें इससे वायु का अनुलोमन होगा। तब वायु पुरीष और मूत्र विसर्जन के पश्चात् अनुवासन बस्ति दें।

औषधि द्रव्य :– निरूह बस्ति में उल्लेखित औषधि द्रव्यों में सेवातनाशक व स्निग्ध द्रव्य ही अनुवासन बस्ति के लिए उपयुक्त है।

औषधि की मात्रा – बस्ति के लिए औषधि की मात्रा न कम होनी चाहिए और न आवश्यकता से अधिक क्योंकि आवश्यकता से कम औषधि होने पर अनुवासन बस्ति का अपेक्षित प्रभाव न हो पाएगा। जबकि आवश्यकता से अधिक मात्रा होने पर पेट में अफरा, अतिसार व मानसिक क्लम अशन्ति होगी। अतः रोगी की पाचन शक्ति के अनुसार औषधि की उचित मात्रा देनी चाहिए। तीव्र पाचन शक्ति वालों के लिए 300 ग्राम या मि.ली., मध्यम पाचन शक्ति वालों के लिए 150 ग्राम या मि.ली. तथा मंद पाचन शक्ति वालों के लिए 75 ग्राम या मि.ली. की मात्रा की औषधी का प्रयोग किया जाता है।

विधि – बस्ति के लिए रोगी को बाई करवट लिटाया जाता है। उसकी बाई टांग फैलाकर तथा दाई जंघा मोड़कर बस्तिपात्र का नेत्र गुदा में डाला जाता है। बस्ति पात्र को ऊंचे स्थान पर टांगा जाता है। जिससे औषधि गुदा के बिना रूकावट में प्रवेश करें। (यदि थेली का प्रयोग किया गया है, तो बाएं हाथ से नेत्र को पकड़कर रखें तथा दाएं हाथ से थैला को दबाते जाएं जिससे औषधि गुदा में प्रविष्ट हो।) इस क्रिया के दौरान रोगी को छीकना, खांसना व जम्भाई लेना मना है। 30 मात्रा की समयावधि तक थैली पर दबाव डालते रहना चाहिए तथा 100 की गिनती करने की समयावधि तक रोगी को पीठ से बल लेटे रहना चाहिए।

इस क्रिया के पश्चात् शरीर के सभी अंगों को फैलाना चाहिए, जिससे बस्ति की औषधि का प्रभाव सभी अंगों में फैल सकें। पश्चात् रोगी के कूल्हें और कटि प्रदेश की ओर से बिसतर का थोड़ा ऊंचा कर देना चाहिए। फिर रोगी आराम से सो जाए।बस्ति का यह क्रम आवश्यकतानुसार 6 से 9 दिन तक लगातार करना चाहिए। तत्पश्चात् निरूह बस्ति देनी चाहिए।

सम्यक् अनुवासन – यदि अनुवासन बस्ति के पश्चात् रोगी के शरीर में किसी भी प्रकार का उपद्रव नहीं होता तथा पुरीष व बस्ति में दिए गए स्नेह के साथ वायु का विसर्जन होता है, तो समझना चाहिए कि बस्तिकर्म उचित प्रकार से हुआ है।

असम्यक् अनुवासन – बस्ति के पश्चात् पुरीष के साथ यदि तेल का विसर्जन नहीं होता तो समझना चाहिए कि अनुवासन बस्ति उचित प्रकार नहीं हुई है। यदि रोगी के अंगों में शिथिलता, पेट में अफारा, शूल, श्वास, कोष्ठ में भारीपन आदि उपद्रव हो तो तीक्ष्ण औषधियों से निरूह बस्ति दें अथवा तीक्ष्य औषधियों से तैयार बत्ती लगाये। इसके अतिरिक्त तीक्ष्ण विरेचन भी दे सकते है। इससे वायु मल व तेल का विसर्जन होगा। यदि बस्ति के 24 घंटे पश्चात् तक भी अनुवासन बाहर नहीं निकले तो रोगी को विरेचन अथवा निरूह बस्ति देनी चाहिए। यदि इससे भी बार न निकले तो ऐसे रोगी को फिर अनुवासन बस्ति नहीं देनी चाहिए।

यदि रोगी के शरीर की रूक्षता के कारण तेल भीतर ही समा जाता है, बाहर नहीं निकलता अथवा बहुत अल्प मात्रा में ही निकलता है और इसके साथ किसी प्रकार का उपद्रव (तकलीफ) भी नहीं होता तो इस रोगी को असाध्य मानकर छोड़ देना चाहिए।

आहार विहार– स्नेहन चिकित्सा में उल्लेखित आहार–विहारों का आचरण अनुवासन बस्ति में भी करना चाहिए।

5. **निरूह बस्ति**– जिस बस्तिकर्म मे कोष्ठ की शुद्धि के लिए औषधियां के क्वाथ दूध, और तेल का प्रयोग किया जाता है। उसे निरूह बस्ति कहते है। चूंकि यह बस्ति शरीर में वायु आदि दोषो और धातुओं की स्थापना में सहायक हैं, अतः उसे आस्थापन भी कहते है। निरूह बस्ति अनेक प्रकार की है। उनके गुणों के अनुरूप ही इनके नाम है। यथा –**दीपन बस्ति, लेखन बस्ति, वृहण बस्ति, पिच्छिल बस्ति, सिद्ध बस्ति युक्तरसा बस्ति आदि।** इन सबका प्रयोग रोग व रोगी की प्रकृति के अनुसार ही किया जाता है। यहां सामान्य रूप से निरूह बस्ति का परिचय दिया जा रहा है।

योग व्यक्ति : – वातज रोग, उदावर्त्त (वायु का ऊर्ध्व गमन), वातरक्त (गठिया), विषम ज्वर, (मलेरिया) उदर रोग, पेट में अफरा मूत्राशय में पत्थरी शूल, अम्लपित्त, मन्दाग्नि, मूत्र में रूकावट, हृदय रोग, प्रमेह, रक्त प्रदर तथा कब्ज जैसे रोगों से पीड़ित व्यक्ति को निरूह बस्ति देनी चाहिए।

अयोग्य व्यक्ति– दोषों के अधिक प्रकुपित होने पर एवं दुर्बलता, वमन, हिचकी, बवासीर, खांसी, दमा, गुदा में सूजन, अतिसार, पेचिस, मधुमेह तथा कुष्ठ जैसे चर्मरोग होने पर निरूह बस्ति नहीं देनी चाहिए। गर्भिणी स्त्री के लिए भी निरूह बस्ति का प्रयोग निषिद्ध है।

पूर्व कर्म – बस्तिपात्र तो अनुवासन बस्ति के सदृश ही होता है। निरूह बस्ति देने से पहले रोगी को स्नेहन और स्वेदन देना चाहिए। रोगी को अधोवायु, पुरीष और मूत्र का त्याग करने के पश्चात् ही यह बस्ति देनी चाहिए। इससे पूर्व भोजन नहीं करना चाहिए।

उपयुक्त स्थान व समय – निरूह बस्ति घर के अंदर व दोपहर के समय दी जाती है।

औषधि द्रव्य – पाटला, अरणी, बिल्व, श्योनाक, गम्भीर, शालपर्णी, कटेरा, बला, गोक्षुर बड़ी कटेरी, कोल, गिलोय, मदनफल, जौ, एरण्ड, पृश्निपर्णी, पलाश, सभी प्रकार के स्नेह और लवण निरूह या आस्थापन बस्ति के लिए उपयुक्त द्रव्य है।

औषधि की मात्रा – इसके लिए 950 मि.ली. 750मि.ली. तथा 375 मि.ली. औषधि की मात्रा क्रमशः उत्तम, मध्यम व निकृष्ट की मानी गई है।

विधि – निरूह बस्ति की विधि अनुवासन बस्ति के सदृश ही है। निरूह

बस्ति के पश्चात रोगी को एक मुहूर्त तक (48 मिनट) एड़ियों के बल घुटने मोड़कर बैठना होता है। इससे बस्ति की औषधि सुविधापूर्वक बाहर आ जाती है। यदि औषधि बाहर न निकले तो क्षार, मूत्र, अम्ल, कांजी आदि तथा सेंधा नमक युक्त बस्ति देनी चाहिए।

रोगी की आवश्यकतानुसार चिकित्सक दूसरी, तीसरी अथवा चौथी बार तक निरूह बस्ति दे सकता है। सामान्यतः जिस रोगी में वायु दोष की प्रधानता हो उसे तेल घी आदि स्नेह से मिश्रित एक बार जिसमें पित्त दोष की प्रधानता हो उसे कषाय और कटु रस वाली तथा उष्ण गुण वाली औषधियों और गो मूत्र से तैयार निरूह बस्ति तीन बार दी जाती है।

सम्यक् निरूह बस्ति – निरूह के पश्चात् यदि रोगी को मल विसर्जन का वेग बहुत कम होता है। अथवा वह बहुत कम मात्रा में पुरीष और अधोवायु का विसर्जन करता है और यदि इसके परिणामस्वरूप उसे मूर्च्छा, पीड़ा, सूस्ती, जड़ता तथा अरूचि उत्पन्न होती है, तो समझना चाहिए कि निरूह ठीक प्रकार नहीं हुआ है।

पश्चात् कर्म – निरूह कर्म के पश्चात् पैत्तिक रोगी को दूध कफज रोग को यूष (सब्जियों का सूप) तथा वातिक रोगी को मांस रस देना चाहिए। इसके पश्चात् उन्हें अनुवासन बस्ति दें।

सावधानी – बालक, वृद्ध व कोमल प्रकृति रोगियों को तीक्ष्ण औषधियों से निरूह नहीं देना चाहिए। उनके लिए मृदु औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

निरूह के तीन स्तर –

1. **उत्क्लेशन बस्ति** – प्रारंभ में निरूह बस्ति ऐसी औषधियों से देना चाहिए जिससे शरीर के अंदर एकत्रवायु आदि दोष उत्तेजित हो जाएं। इस उद्देश्य के लिये एरण्ड बीज, मुलहठी, पिप्पली, सेंधा नमक, वच के बीज तथा हपुशा के फल के कल्क की बस्ति दी जाती है। इसे उत्क्लेशन बस्ति कहते है।

2.**दोषहर बस्ति** – दोषों के उत्तेजित होने के पश्चात् उन्हें बाहर में सहायक अर्थात् दोषहर औषधियों से निरूह बस्ति दी जाती है। क्योंकि उत्तेजित अथवा उत्क्लिष्ट दोष सुविधापूर्वक बाहर निकल सकते है। इस उद्देश्य के लिए अगस्ति के बीजों के तेल प्रियंगु, मुलहठी, मुस्ता तथा रसौंता (रसांजन से तैयार औषधि) की बस्ति दी जाती है। यह दोषहर बस्ति कहलाती है।

3. **संशमन बस्ति** – दोपहर बस्ति के पश्चात् दोषों को शांत करना भी अत्यावश्यक है। इसके लिए संशमन औषधियां से बस्ति दी जाती है। अन्य

औषधियां के साथ दूध से दी गई निरूह बस्ति तीनों दोषों का शमन करती है। अतः यह संशमन बस्ति कहलाती है।

आहार विहार –निरूह बस्ति के पश्चात रोगी को गर्म जल से स्नान करना चाहिए। उसे दिन के समय सोना नहीं चाहिए तथा अजीर्ण (अपच) से बचना चाहिए।

रक्त मोक्षण

शरीर और अन्य द्रव्यों के सदृश रक्त की संरचना भी पांच महाभूतों के सम्मिश्रण से ही हुई है। रक्त में स्थित मांस जैसी गंध, पृथ्वी, महाभूत का तरलता अथवा द्रवता जल महाभूत का रक्त वर्ण तेजस् महाभूत का चंचलता (अस्थिरता) वायु महाभूत का तथा विलयता (दूसरे द्रव पदार्थों में शीघ्र मिल जाना) आकाश महाभूत का गुण है। रक्त का जीवन के लिए बहुत महत्व है। यह रक्त ही है जो चेतन प्राणी के शरीर का निर्माण भी करता हैं तथा उसे जीवित भी रखता है। रक्त के बिना प्राणी मृत्यु को ही प्राप्त हो जाता है। अतः रक्त की रक्षा करना तथा अत्यधिक स्त्राव को रोकना अत्यावश्यक है।

अत्यधिक महत्वपूर्ण होने पर भी कुछ परिस्थितियों में रक्त को शरीर से बाहर निकालना पड़ता है। जैसे चर्मरोग, शरीर में गांठे, शोथ (सूजन) आदि होने पर रक्त मोक्षण (रक्त को शरीर से बाहर निकालना) को एक चिकित्सा के रूप में प्रयोग किया जाता है। क्योंकि उपरोक्त परिस्थियाँ रक्त को दूषित होने पर अथवा रक्त की मात्रा में अधिकता होने पर उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में दूषित रक्त का का ही स्त्राव कराया जाता है। रक्तस्त्राव की मात्रा रोग के अनुसार 775 मि.ली., 375 मि.ली. अथवा 190 मि.ली. हो सकती है।

सामान्य रक्त के लक्षण – सामान्य और शुद्ध रक्त का रंग लाल, स्वाद मधुर (मीठा) और गंध मांस के समान होती है। यह न गर्म और न ही ठण्डा होता है। यह भारी तथा स्निग्ध होता है। शुद्ध रक्त का विदाह, चयापचय, पित्त के समान होता है।

दूषित रक्त के लक्षण – जिसका रक्त दूषित होता है वह व्यक्ति पीड़ा, जलन, त्वचा पर लाल चकतों, सूजन, फोड़े–फुंसियों और पाक (पीब पड़ना) से पीड़ित रहता है।

रक्त की अधिकता (प्रकोप) के लक्षण– शरीर में रक्त की मात्रा अधिक होने पर रोगी का शरीर और आंखे लाल, शरीर भारी और शिराएँ भरी होती है। उसे बहुत अधिक नींद आती है। वह जलन और मद से पीड़ित रहता है।

रक्त की अधिकता (प्रकोप) के लक्षण –शरीर में रक्त की मात्रा अधिक होने पर रोगी का शरीर और आंखे लाल, शरीर भारी और शिराएँ भरी रहती है। उसे बहुत अधिक नींद आती है। वह जलन और मद से पीड़ित रहता है।

रक्ताल्पता के लक्षण – शरीर में रक्त की कमी होने पर मूर्च्छा, त्वचा में रूक्षता तथा शिराओं में शिथिलता रहती हैं। इस स्थिति में वायु प्रकुपित हो जाता है, जिससे रक्त ऊपर की ओर गति करने लगता है। ऐसा रोगी मीठे और खट्टे पदार्थ पसन्द करता है।

रक्त मोक्षण के योग्य व्यक्ति – निम्नलिखित रोगों से पीड़ित व्यक्ति के लिए रक्त मोक्षण उपयोगी है शोध (सूजन) दाह (जलन) त्वचा पर लालिमा, शरीर के किसी अंग से रक्त स्त्राव, वात रक्त (गठिया), कुष्ठ जैसे चर्म रोग फोड़े–फुंसिया, वायु का अत्यधिक प्रकोप, रक्त की विषाक्तता गांठे व गिल्टियां होना, अपची, क्षुद्र रोग, विदारिका, स्तन रोग, शरीर में भारीपन व शिथिलता, रक्त प्रकोप से उत्पन्न नेत्रपाक, तन्द्रा, मुंह, नाक व शरीर से दुर्गन्ध आना, कान, होंठ, नाक व मुंह से पीब आना, यकृत और प्लीहा के रोग, विसर्प, सिरदर्द व उपदंश इत्यादि।

अयोग्य व्यक्ति – उपरोक्त रोग होने पर भी जो व्यक्ति दुर्बल, नपुंसक और मैथुन में बहुत अधिक करते हैं, उनका रक्त–मोक्षण नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त रक्त–मोक्षण चिकित्सा से ड़रने वाले, रक्ताल्पता, बवासीर, सारे शरीर में शोथ, उदर रोग, दमा, खांसी, वमन व अतिसार से पीड़ित गर्भिणी व प्रसूता स्त्री, जिन रोगियों ने पंचकर्म चिकित्सा व स्नेहन चिकित्सा का प्रयोग किया है। जिन्होंने अधिक मात्रा में स्वेदन चिकित्सा ली है। तथा शस्त्रादि के आघात से जिनके शरीर से रक्त स्त्राव हो चुका हैं वे सभी रक्त–मोक्षण के अयोग्य है।

उपयुक्त आयु – 16 से 70 वर्ष की आयु वाले व्यक्तियों का ही रक्त मोक्षण किया जा सकता है।

उपयुक्त समय – रक्त–मोक्षण क्रिया शरद ऋतु में करनी चाहिए।

रक्त–मोक्षण के साधन – शरीर से रक्त स्त्राव के लिए किसी जानवर के सींग, जोंक, तुम्बी या तोरी के फल का प्रयोग किया जाता हैं शिरा का छेदन करके भी रक्तस्त्राव किया जाता है। वायु–प्रकोप के कारण रक्त दूषित होने पर गाय का सींग, पित्त–प्रकोप से रक्त दूषित होने पर जोंक तथा कफ–प्रकोप से रक्त दूषित होने पर तुम्बी का प्रयोग किया जाता है। दो अथवा तीनों दोषों

के इकट्ठे प्रकुपित होने पर शिराच्छेद द्वारा रक्त–मोक्षण किया जाता है।

सींग द्वारा 10 अंगुल के क्षेत्र से जोंक द्वारा एक–हस्त तक के स्थान से तुम्बी द्वारा 12 अंगुजल तक स्थान से खरोंच द्वारा केवल एक अंगुल तक के स्थान से तथा शिराच्छेद द्वारा संपूर्ण शरीर से रक्त निकाला जा सकता है।

जोंक लगाने की विधि :– जिस रोगी के लिए जोंक का प्रयोग करना हो उसे बिठा दें अाि‍वा लिटा दे। जिस स्थान से रक्त निकालना हो (यदि वहां पीड़ा न हो तो) उस स्थान को मिट्टी अथवा गाय के गोबर के चूर्ण से रकड़कर खुरदरा सा किया जाता हैं यदि उस स्थान पर दर्द हो तो रूई से धीरे से रगड़कर सरसों और हल्दी के कल्प, पानी मिलाकर बनाया गया पेस्ट से लिप्त करते है। तब इस जोंक को पानी के बर्तन में कुछ देर के लिए रखा जाता है। जिससे वह गतिशील हो जाए। तत्पश्चात् इसे रक्त मोक्षण वाले स्थान पर रखते हैं जब जोंक रक्त चूसना प्रारंभ करती है। तो उसके मुख्य को मुलायम सफेद व गीले कपड़े या रूई के फांहे से ढक दिया जात है। यदि जोंक रक्त चूसना प्रारंभ न करें तो रोगी की त्वचा पर दूध या रक्त की बूंदे टपकाया जाता है जिससे वह रक्त चूसना शुरू कर देती है। ऐसा करने पर भी यदि जोंक रक्त न चूसे तो दूसरी जोंक लेनी चाहिए।

जब जोंक का मुख नीचे की ओर हो उसकी गर्दन फुलने लगे तेा समझना चाहिए कि उसने रक्त चूसना प्रारंभ कर दिया है। यदि जोंक वाले स्थान पर रोगी को दर्द और खुजली होने लगे तो समझना चाहिए, कि जोंक शुद्ध रक्त चूसने लगी है। इस समय उसको वहां से हटा देना चाहिए। यदि रक्त के आकर्षण से जोंक हट न रही हो तो उसके ऊपर सेंधा नमक छिड़क दें, इससे वह हट जाएगी।जब जोंक को रोगी के शरीर से हटाया जाता है तो उसके शरीर के चावल के दरदरे चूर्ण से लपेट देते है। उसके मुंह पर तेल और नमक लगाया जाता है। बाएं हाथ से उसे पूंछ की ओर से पकड़कर दाएं हाथ की अंगुलियों से उसके मुंह की ओर दबाव डालते हुए धीरे–धीरे दबाया जाता है।इस दबाव से जोंक चूसा हुआ रक्त बाहर निकाल देती है। जब तक चूसा हुआ पूरा रक्त वमन द्वारा बाहर न निकाल दें तब तक दबाव की प्रक्रिया जारी रखनी चाहिए। इसके बाद जोंक को पानी के बर्तन में डाल दिया जाता है। तब वह भोजन के लिए घूमने लगती है। यदि पानी में जोंक सुस्त होकर पड़ी रहे और गतिशील न हो तो इसका तात्पर्य है कि उसने चूसा हुआ रक्त पूरी तरह से बाहर नहीं निकाला तब उसे दुबारा वमन कराया जाता है।

जोंक का चयन – जोंक का प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह विषैली न हो। दूषित, जल, विषैली, मछली, जीव जन्तु, मेढक और मल–मूत्र युक्त कीचड़ में रहने वाली जोंके विषैली होती है। उसके विपरीत स्वच्छ जल, पद्म उत्पल, कुमुद पौण्ड्रीक, नलिन और शैवाल युक्त कीचड़ में रहने वाली जोंके विषैली नहीं होती अथवा सुगन्धित और स्वच्छ जल में घूमने वाली तथा गन्दे कीचड़ में न सोने वाली जोंको का प्रयोग ही रक्त मोक्षण के लिए करना चाहिए।

जोंको का संग्रह :– रक्त मोक्षण के लिए योग्य जोंको को गीले चमड़े की सहायता से या इसी प्रकार के किसी अन्य साधन से पकडकर मिट्टी के नये बर्तन में डाला जाता हैं इस बर्तन में पानी और किसी झील या तालाब से लिया गया स्वच्छ कीचड़ भरा होता है। जोंको के भोजन के लिए सूखे मांस का चूर्ण और जलीय वनस्पतियों की जड़ों का चूर्ण रखा जाता है। उनके सोने के लिए जलीय वनस्पतियों की पत्तियां और घास बिछाई जाती है। हर तीसरे दिन पानी और भोज्य पदार्थों को बदल कर ताजे पदार्थ व ताजा जल डालना चाहिए। मिट्टी का बर्तन भी सात दिन बाद बदलकर नया रखना चाहिए।

सम्यक् रक्त–मोक्षण के लक्षण – रक्त–मोक्षण की क्रिया के पश्चात् यदि रोगी को दर्द में आराम मिलता है, रोग की तीव्रता कम हो गई है, वह शरीर में हल्कापन अनुभव करता है तथा सूजन समाप्त हो गई है, तो समझना चाहिए कि यह क्रिया ठीक प्रकार से सम्पन्न हो गई है।

पश्चात् कर्म – रक्त मोक्षण की क्रिया के भली प्रकार हो जाने के बाद रोगी को शीतल आहार–विहार प्रदान किया जाता है। इस शीतल उपचार से वायु दोष प्रकुपित हो सकता हैं ऐसा होने पर रक्त मोक्षण के स्थान पर सूजन और दर्द हो जाती है। इसकी शांति के लिए उस स्थान पर हल्का गर्म किया हुआ घी लगाना चाहिए।

रक्त मोक्षण के पश्चात् यदि रोगी दुर्बलता महसूस करता है तो उसे खरगोश, भेड़, हिरण अथवा बकरी के मांस का रस पर्याप्त मात्रा में देना चाहिए। उसे भोजन में दूध के साथ पौष्टिक चावल का सेवन कराना चाहिए।

अपथ्य (परहेज) – रक्त मोक्षण के बाद जब तक रोगी पुनः अपनी सामान्य शक्ति प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसे शारीरिक श्रम, मैथुन, क्रोध, शीतल जल से स्नान, तेज हवा, दिन के समय सोना, एक बार ही भोजन करना, शोक, चिंता, वाद–विवाद, अपच, भारी भोजन ग्रहण तथा क्षार, अम्ल और कटु रस

युक्त पदार्थो से परहेज ही रखना चाहिए।

अति रक्तस्त्राव के लक्षण :– रक्त मोक्षण के पश्चात् यदि रोगी में अंधापन, आक्षेप, अत्यधिक प्यास, आंखों के आगे अंधेरा छाना, पक्षाघात, दमा, खांसी, हिचकी, दांह और रक्ताल्पता के लक्षण दिखाई दें तो समझा जाता है कि रोगी के शरीर से आवश्यकता से अधिक रक्त निकल गया है। इस अत्यधिक रक्तस्त्राव से रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। यह अत्यधिक रक्तस्त्राव तभी होता है यदि रक्त मोक्षण ग्रीष्म ऋतु में किया जाए अथवा शिरा आवश्यकता से अधिक कट जाए अथवा रोगी को बहुत अधिक पसीना आए।

रक्तस्त्राव रोकने के लिए उपचार :– यदि रक्तस्त्राव बहुत अधिक हो रहा हो तो शीतल चिकित्सा की जाती है। कटे हुए स्थान पर शीतल औषधियों को लेप किया जाता है। कटी हुई शिरा को कुछ ऊपर से दुबारा काटना चाहिए। शिरा के कटे हुए स्थान को क्षार अथवा आग में तपाए हुए लोहे के डंडे से तपाना चाहिए। इससे शिरा संकुचित हो जाती है। तथा रक्तस्त्राव बंद हो जाता है। कटे हुए स्थान पर शीतल और कटु रस वाले क्वाथों का प्रयोग करने से रक्त़स्त्राव बंद हो जाता है। क्षार लगाने से शिरा का कटा हुआ भाग फूल (उभर) जाता हैं इससे भी रक्तस्त्राव बंद होने में सहायता मिलती है।

निम्नलिखित औषधियों में से किसी एक को कटे हुए स्थान के मुख्य पर लगाने से भी रक्तस्त्राव बंद हो जाता है।

1. लोध्र, सर्जरस और अंजन का चूर्ण।
2. जौ और गेहूं का चूर्ण।
3. धव धन्वन और गेरू का चूर्ण।
4. सांप की केचुली का चूर्ण अथवा
5. रेशमी कपड़े की राख।

इनमें से कोई एक औषधि कटे स्थान के मुख में भर कर ऊपर से पट्टी बांध देनी चाहिए।

अल्प रक्तस्त्राव के कारण :– यदि रोगी उपवास कर रहा हो बहुत अधिक सोता हो मद मूर्च्छा बेहोशी और थकावट से पीड़ित हो यदि रोगी के मल मूत्र विसर्जन में रूकावट हो और यदि रक्त मोक्षण क्रिया बहुत अधिक सर्दी के मौसम में की जा रही हो तो रक्तस्त्राव बहुत कम होता है। यदि रोगी भयभीत हो तो भी रक्तस्त्राव कम होता है।

रक्तस्त्राव में वृद्धि के उपाय :– यदि रक्तमोक्षण से रक्तस्त्राव न हो अथवा बहुत कम हो तो कटे हुए स्थान के मुख को कूठ, सोठ, पिप्पली, काली मिर्च और सेंधा नमक के चूर्ण से रकड़ना चाहिए। इससे रक्तस्त्राव भली भांति होने लगता है।

सावधानी :– उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए रक्तमोक्षण की क्रिया तभी करनी चाहिए जब न बहुत अधिक सर्दी हो और न बहुत अधिक गर्मी हो। जब रोगी को पसीना आ रहा हो और धूप की गर्मी से तपा हुआ हो, तब भी रक्त मोक्षण नहीं करना चाहिए। रोगी को पर्याप्त मात्रा में यवागू खिलाकर जब उसका पेट भर जाए तत्पश्चात् रक्त मोक्षण की क्रिया करनी चाहिए।

इस उपरोक्त चिकित्सा का प्रयोग करने से पूर्व वैद्य को रोगी व रोग के अनुसार स्नेहन व स्वेदन कर्मो का प्रयोग करके दोषों को उत्तेजित कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् मात्रा और समय का विचार करके पंचकर्म का प्रयोग करना चाहिए।

पश्चात कर्म

सभी संशोधन कर्म के पश्चात पाचन संस्थान को एक बड़ा धक्का लगता है। जिससे अग्नि मंद हो जाती है। अतः पंच कर्मो के बाद रोगी को सहसा उनके प्राकृत आहार को नहीं देना चाहिए बल्कि धीर–धीरे मण्ड, पेया, विलेपी आदि हल्के सुपाच्य द्रव्य आहारों के द्वारा क्रमशः अधिक–अधिक द्रव से ठोस आहार करते हुए कुछ हते में रोगी को उसके प्राकृत आधार एवं मात्रा पर ले आना चाहिए। इस तरह क्रमिक आहार वर्धन पथ्य सेवन का संसर्जन क्रम कहते है।

पंचकर्मो में पेया, विलेपी, कृत, अकृतयूष, अंकृत मांसरस, कृतमांस रस इस तरह छः प्रकार के पथ्यों को दिया जाता है। इसमें व्यक्ति के शोधन कर्म के अनुसार पथ्य की व्यवस्था करते हुए पेया विलेपी कृत यूस (बिना घी नमक डालकर) अकृत मांसरस, कृत मांस रस का प्रयोग करते हुए रोगी अपने सामान्य आहार पर आ जाता है।

पंचकर्मो का आवान्तर काल :–

1. स्नेहन – तीन पांच सात दिनों तक।
2. स्वेदन – दिनों में इनकी संख्या नही दी जा सकती, केवल लक्ष्णों के आधार पर जब शीत और
   शूल शांत हो जाये, स्तंभ और गुरूता जाती रहे, मृदुता उत्पन्न हो जाये

तो स्वेदन कर्म बंद करें।

3. वमन कर्म – स्वेदन के दूसरे दिन वमन कर्म करे।
4. वमन के नौवे दिन विरेचन कर्म करें।
5. विरेचन के आठ दिन बाद बस्ती कर्म करे।
6. बस्ति के बाद शिरो विरेचन कर्म करें।

पंचकर्मो की व्यवस्था –

1. स्नेहन स्वेदन फिर वमन प्रथम कर्म।
2. स्नेहन स्वेदन फिर विरेचन कर्म।
3. स्नेहन स्वेदन अनुवासन तृतीय कर्म।
4. स्नेहन स्वेदन अस्थापन चतुर्थ कर्म।
5. स्नेहन स्वेदन फिर सिरोविरेचन पंचम कर्म।

पंचकर्म का प्रयोजन और महत्व :–

1. पंचकर्म शरीर शोधन की प्रक्रिया है। जिसके प्रयोग में रोगोत्पादक मल, दोष, विष, विजातीय द्रव्य और अधारणीय पदार्थो को शरीर से बाहर निकाला जाता है। जिसके परिणामस्वरूप – क. स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण ख. रोगी व्यक्ति के रोग का प्रशमन – आयुर्वेद के इन दोनों प्रयोजनों का उत्तम समाधान होता है।

2. **रोग हेतु का निर्मूलन** – जब रूग्ण व्यक्ति का स्नेहन स्वेदन आदि पूर्व–कर्मपूर्ण विधिवत किया जाता है तो दोषों का संशोधन हो जाने से रोग समूल नष्ट हो जाता है। और उसके पुनः उत्पन्न होने की आशंका मिट जाती है। यदि रोगों को लंघन पाचन आदि उपचार के द्वारा बिना शोधन किये की नष्ट कर दिया जाता है। तो उनके पुनः उत्पन्न होने की संभावना होती है, किन्तु संशोधन के द्वारा दोषों का विनाश कर जब रोगोत्पति नहीं होने पाती। इस प्रकार पंचकर्म रोगोत्पत्ति रोकने और रोग को समूल नष्ट करने उपयोगी भूमिका का निर्वाह करने में सक्षम चिकित्सा है।

3. **दैनन्दिन नित्यकर्म**– शौच, दंतधावन और स्नान की तरह मालिश, स्नेहन, प्रतिमर्श, नस्य, कर्णतेल आदि पंचकर्म के अंगो का नित्य प्रयोग होता है।

4. **ऋतुचर्या में उपयोग** – जिस–जिस ऋतु में जिस–जिस दोष का संचय होता है उस–उस ऋतु में उस–उस दोष का शोधन बतलाया है, जिससे ऋतुजन्य विकार न हो। जब संचयकाल में ही दोष का निर्हरण कर दिया गया है। जो दोष का प्रकोप रूक जाता है और फिर रोग नही होता।

दोषों का शोधन काल –

1. ग्रीष्म ऋतु में संचित वात का शोधन श्रावणमास में।

2. वर्षा ऋतु में संचित पित्त का शोधन कार्तिकमास में और

3. हेमन्त मे संचित कफ का शोधन चैत्र मास में करना चाहिए ये महीने समशीतोष्ण होने से संशोधन योग्य है। वात् में वस्ति पित्त में विरेचन एवं कफ में वमन कराये।

5. **अधारणीय वेग प्रवर्तन** – मल–मूत्र एवं अपानवायु के अवरोध से अनेक प्रकार के कष्ट होते है। जिसके निराकरण के लिए एवं वेग प्रवर्तनार्थ यथा योग्य पंचकर्म का प्रयोग किया जाता है। वेगावरोधज रोग प्राणधातक हो जाते है और उनको दूर करने का सर्वोत्तम उपचार पंचकर्म है।

6.**विष प्रतिकार** – किसी भी प्रकार के विष भक्षण या विषदंश में सद्यः वमनस या विरेचन करा देने से विषाक्तता नहीं होती और रूग्ण का प्राण संकट दूर हो जाता है। पंचकर्म के प्रयोग से विष का प्रभाव नष्ट होता है।

7. **रसायन और वाजीकरण** – ये दोनों क्रमशः रसादि धातुओं को प्रशस्त बनाते ऊर्जा देते और पुरूष शक्ति बढ़ाकर सम्भोग सामर्थ्य तथा सन्तानोत्पति क्षमता प्रदान करते है। किन्तु इनका प्रयोग तभी फलप्रद होता है जब औषधिओं के प्रयोग से पहले विधिवत पंचकर्म का प्रयोग कर शरीर का शोधन कर लिया जाये। तत्पश्चात् रसायन एवं बाजीकरण के योगों का प्रयोग करना चाहिए एवं शक्ति संचय में भी पंचकर्म की उपयोगिता है।

8. **पंचकर्म** – यह श्रेष्ठ संशोधन उपचार है, संक्षेप में चिकित्सा के दो प्रकार बतलाये गये है शोधन और शमन इनमें आचार्य चरक ने प्रत्येक रोग की चिकित्सा में किसी न किसी प्रकार के संशोधन के निर्देश दिया है। (शोधन के एक ही अपवाद है ऊरूस्तभ) श्रेष्ठ चिकित्सा उसे कहा जाता है जो रोग के कारण का सर्वथा उन्मूलन कर दे और रोग की अपुनर्भव बनाने के लिए श्रेष्ठ पद्धति है।

अतः शोधन के द्वारा संसर्जनक्रम एवं रसायन आदि के प्रयोग से शरीर में बलपौरूष और पराक्रम की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार जब शरीर में बहुदोष के लक्षण प्रकट हो जाते है तो उन्हें काटने के लिए एकमेव उपाय है। पंचकर्म पंचकर्म द्वारा शोधन किये जाने पर शरीर रोगमुक्त तो होता ही है। साथ ही शरीर में बल–पौरूष एवं मन बुद्धि तथा इन्द्रियों में भी प्रसन्नता आती है।

सारांश

- इस इकाई में आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र का मुख्य विभाग पंचकर्म चिकित्सा का सरलता से परिचय दिया गया है।
- वमन विरेचन, बस्ति, नस्य एवं रक्त मोक्षण आदि कर्मो का परिचय, भेद, विधि, लाभ का वर्णन है।
- पूर्व कर्म, प्रधान कर्म एवं पश्चात कर्मो का वर्णन है।
- अंत में पंच कर्म की महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

अभ्यास प्रश्न

1. पंच कर्म चिकित्सा का परिचय लिखें।
2. वमन कर्म से क्या समझते हो, योग्य रोगी एवं वमन कर्म से लाभ पर प्रकाश डाले।
3. विरेचन कर्म योग्य रोगी एवं उसके लाभ पर प्रकाश डाले।
4. सिरो विरेचन कर्म का वर्णन लिखें।
5. बस्ति कर्म से आप क्या समझते है, वर्णन करें।
6. रक्त मोक्षण कर्म से आप क्या समझते हैं चिकित्सा क्रम एवं विधि लिखें।

चिकित्सा विज्ञान एवं पंचकर्म

इकाई – 9 (रसायन विज्ञान)

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य।

2. प्रस्तावना।

3. विषय वस्तु – (रसायन विज्ञान)

- रसायन परिभाषा परिचय एवं महत्व।
- रसायन प्रयोग विधि एवं अयोग्य व्यक्ति लक्षण।
- रसायन औषधि नाम एवं लाभ।
- बाजीकरण चिकित्सा की परिभाषा एवं महत्व।
- बाजीकरण औषधियों का नाम एवं प्रयोग।

4. सारांश।

5. अभ्यास प्रश्न।

उद्देश्य –इस इकाई में हम रसायन विज्ञान का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :–

- रसायन औषधि से परिचित होंगे।
- कम से कम वात तापिक विधि से स्वयं रसायन द्रव्यों का प्रयोग कर स्वस्थ जीवन व्यतीत कर सकते है।
- बाजीकरण चिकित्सा का महत्व एवं प्रयोग से परिचित होगें।

प्रस्तावना :– आप इस इकाई में आयुर्वेद के आठ विभागों (अष्टांग आयुर्वेद) जिसका परिचय प्रथम प्रश्न पत्र की इकाई एक में अध्ययन किया है। उसी में से एक महत्वपूर्ण विभाग रसायन तंत्र का संक्षिप्त में अध्ययन करेंगे। रसायन औषधियों सभी धातु रस से शुक पर्यान्त पुष्टि कारक होता है। यह औषधियों बाजीकारक भी होती है। अतः सर्व धातु पोषण रसायन औषधि निश्चित रूप से आयु को बढ़ाने वाला होता है। इस इकाई में हर्रा, ऑवला, बहेरा आदि सर्व सुलभ द्रव्यों का प्रयोग बताया है। जिसका सामान्य आहार के रूप में प्रयोग करके रोगों को अपने से दूर रखा जा सकता है। ऋतु में होने वाले रोगों से बचा जा सकता है। जिस प्रकार उचित आहार व्यायाम से जीवन को स्वस्थ जी सकते हैं। यदि उसमें रसायन द्रव्यों का नियमित प्रयोग हो तो कोई भी व्याधि पास नहीं आ सकती है। रसायन प्रयोग के साथ–साथ प्रयोजन एवं महत्ता से परिचित होंगे। रसायन द्रव्यों की श्रृंखला में हमारे आस पास मिलने वाले द्रव्य ही है। जिसका प्रयोग हम आसानी से कर सकते है।

विषय वस्तु
रसायन चिकित्सा परिचय एवं महत्व

परिभाषा – शरीरगत उत्तम रस आदि धातुओं को प्राप्त करने का जो उपाय हैं, उसे रसायन कहते हैं।

मनुष्य समाज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राणी है। संसार में होने वाली प्रत्येक क्रिया एवं खोज का चरम लक्ष्य है– मानव को सुख व सुविधा प्राप्त करना। इस कड़ी में, समूचे विश्व के चिकित्सक और वैज्ञानिक इस प्रकार की औषधियों एवं साधन खोजने में व्यस्त हैं, जिनके उपयोग से मानव एवं प्राणी विभिन्न प्रकार के रोगों के आक्रमण से बचा रहे तथा जिन रोगों से वह पीड़ित हैं, उनसे पूर्णतः छुटकारा पा सके। इन्हीं सब प्रयत्नों के फलस्वरूप तथा अनेक स्वस्थ परिस्थितियों को प्राप्त करके मनुष्य की औसत आयु में वृद्धि हुई है। अनेक विकसित, विशेषतः पाश्चात्य देशों ने तो इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त कर ली है, जो एक सराहनीय कदम है।

परन्तु मनुष्य की आयु में वृद्धि के साथ–साथ अनेक प्रकार की मानसिक एवं सामाजिक समस्याएं भी उत्पन्न हो गई हैं। इनमें सबसे प्रमुख समस्या है– समाज परिवार में वृद्ध व्यक्तियों की व्यवस्था। उम्र में वृद्धि के साथ साथ समाज में वृद्धों की संख्या अथवा परिवार में वृद्ध व्यक्तियों की व्यवस्था। उम्र में वृद्धि के साथ –साथ समाज में वृद्धों की संख्या में बढ़ोत्तरी होना स्वाभाविक ही है। आयु के इस लम्बे अंतराल में समाज की परिस्थियों एवं वातावरण में अनेक प्रकार के परिवर्तन आ जाते है। परंतु ये वृद्ध लोग समाज की इन बदली हुई स्थितियों में अपने आपको ढ़ाल नही पाते। इस प्रकार युवा पीढ़ी और वृद्ध वर्ग में मानसिक धरातल पर एक कशमकश चलती रहती है। इस मानसिक अव्यवस्था के अतिरिक्त, शरीर की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों की शक्ति भी आयु वृद्धि के साथ क्षीण होती चली जाती है। अतः वृद्ध व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से भी असमर्थ व पराश्रित हो जाता हैं। वह अपने जीवन में नीरसता अनुभव करने लगता है तथा समाज व परिवार पर भार बन जाता है। अतः जीवन की अवधि (आयु) में वृद्धि के साथ–साथ इन समस्याओं का समाधान ढूंढना भी अनिवार्य हो गया है। आयुर्वेद में इन समस्याओं का समाधान रसायन चिकित्सा द्वारा किया गया है। संक्षेप में, जो औषधि अथवा चिकित्सा

शरीर को वृद्धावस्था तत्जनित विकारों तथा अन्य रोगों से मुक्त रखती है, ''रसायन चिकित्सा'' कहलाती हैं।

रसायन का उद्देश्य –

रसायन चिकित्सा का प्रमुख उद्देश्य वृद्ध व्यक्तियों के जीवन में आने वाली उपरोक्त समस्याओं का समाधान करना ही है। चरक संहिता में रसायन चिकित्सा से होने वाले लाभों का वर्णन करते हुए बतलाया गया हैं, कि रसायन चिकित्सा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति की दीर्घायुष्य के साथ–साथ स्मरण शक्ति, बुद्धि तथा स्वास्थ्य में वृद्धि होती है। उसकी आयु लंबी होती है। ऐसे व्यक्ति का यौवन बना रहता है। अर्थात् बुढ़ापा शरीर पर अपना कुप्रभाव नहीं डाल पाता। उसकी त्वचा के रंग में निखार आता है। रसायन की चिकित्सा करने वाले की ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में शक्तियाँ बनी रहती है। उसकी आवाज तथा कान्ति में वृद्धि होती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रसायन चिकित्सा का उद्देश्य है– व्यक्ति में जीवन भर यौवन बनाए रखना। इसका उद्देश्य वृद्ध और असमर्थ व्यक्तियों के समाज के स्थान पर ऐसे समाज की स्थापना करना है, जिसमें शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से शक्ति सम्पन्न (वृद्धावस्था में भी) व्यक्ति निवास कर सके।

रसायन चिकित्सा के उपयोग का समय –

रसायन चिकित्सा का मुख्य कार्य व्यक्ति को वृद्धावस्था की कुप्रभावों से और रोगों से मुक्त रखना है। यह सोचकर यदि इसका प्रयोग वृद्धावस्था में प्रारंभ किया जाए तो अनुचित होगा। क्योंकि वृद्ध होने पर यह चिकित्सा अधिक लाभप्रद सिद्ध नहीं हो सकती। अतः यदि वृद्ध होने से पहले ही, जबकि शरीर में पाचन क्रिया तथा पयापचय क्रिया सामान्य रूप से कार्य कर रही हों ? तभी रसायन चिकित्सा प्रारंभ कर देनी चाहिए। इससे व्यक्ति को अधिक लाभ मिल सकता है। अर्थात् युवावस्था अथवा प्रौढ़ावस्था से ही रसायन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। इस चिकित्सा का प्रयोग करने से पहले निम्नलिखित दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है–

1. सर्वप्रथम, प्रयोगकर्ता के शरीर में स्थित अवांछित तथ्यों व मल पदार्थों का विसर्जन करके शरीर की शुद्धि करना आवश्यक हैं। इसके लिए

संशोधन चिकित्सा यथा –विरेचन (Purgation), और वमन (Vomiting) या (Emetic) क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिए। शरीर की शुद्धि के बिना इस चिकित्सा से वांछित लाभ प्राप्त नहीं हो सकता।

2. प्रयोगकर्त्ता को यह सिखाया जाना चाहिए कि वहीं सोचें, वहीं बोले तथा वही कार्य करें, जो एक अच्छे स्वस्थ व्यक्ति करता हैं।

परन्तु मनुष्य की आयु में वृद्धि के साथ–साथ अनेक प्रकार की मानसिक एवं सामाजिक समस्याएं भी उत्पन्न हो गई हैं। इनमें सबसे प्रमुख समस्या है– समाज परिवार में वृद्ध व्यक्तियों की व्यवस्था। उम्र में वृद्धि के साथ साथ समाज में वृद्धों की संख्या अथवा परिवार में वृद्ध व्यक्तियों की व्यवस्था। उम्र में वृद्धि के साथ –साथ समाज में वृद्धों की संख्या में बढ़ोत्तरी होना स्वाभाविक ही है। आयु के इस लम्बे अंतराल में समाज की परिस्थितियों एवं वातावरण में अनेक प्रकार के परिवर्तन आ जाते है। परंतु ये वृद्ध लोग समाज की इन बदली हुई स्थितियों में अपने आपको ढ़ाल नही पाते। इस प्रकार युवा पीढ़ी और वृद्ध वर्ग में मानसिक धरातल पर एक कशमकश चलती रहती है। इस मानसिक अव्यवस्था के अतिरिक्त, शरीर की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों की शक्ति भी आयु वृद्धि के साथ क्षीण होती चली जाती है। अतः वृद्ध व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से भी असमर्थ व पराश्रित हो जाता हैं। वह अपने जीवन में नीरसता अनुभव करने लगता है तथा समाज व परिवार पर भार बन जाता है। अतः जीवन की इस अवधि (आयु) में उम्र वृद्धि के साथ–साथ इन समस्याओं का समाधान ढूंढना भी अनिवार्य हो गया है। आयुर्वेद में इन समस्याओं का समाधान रसायन चिकित्सा द्वारा किया गया है। संक्षेप में, जो औषधि अथवा चिकित्सा शरीर को वृद्धावस्था तत्जनित विकारों तथा अन्य रोगों से मुक्त रखती है, ''रसायन चिकित्सा'' कहलाती हैं।

<u>रसायन का उद्देश्य</u> –

रसायन चिकित्सा का प्रमुख उद्देश्य वृद्ध व्यक्तियों के जीवन में आने वाली उपरोक्त समस्याओं का समाधान करना ही है। चरक संहिता में रसायन चिकित्सा से होने वाले लाभों का वर्णन करते हुए बतलाया गया हैं,

कि रसायन चिकित्सा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति की दीर्घायुष्य के साथ–साथ स्मरण शक्ति, बुद्धि तथा स्वास्थ्य में वृद्धि होती है। उसकी आयु लंबी होती है। ऐसे व्यक्ति का यौवन बना रहता है। अर्थात् बुढ़ापा शरीर पर अपना कुप्रभाव नहीं डाल पाता। उसकी त्वचा के रंग में निखार आता है। रसायन की चिकित्सा करने वाले की ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में शक्तियाँ बनी रहती है। उसकी आवाज तथा कान्ति में वृद्धि होती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रसायन चिकित्सा का उद्देश्य है– व्यक्ति में जीवन भर यौवन बनाए रखना। इसका उद्देश्य वृद्ध और असमर्थ व्यक्तियों के समाज स्थान पर ऐसे समाज की स्थापना करना है, जिसमें शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से शक्ति सम्पन्न (वृद्धावस्था में भी) व्यक्ति निवास कर सके।

रसायन चिकित्सा का उपयोग का समय –

रसायन चिकित्सा का मुख्य कार्य व्यक्ति को वृद्धावस्था की कुप्रभावों से और रोगों से मुक्त रखना है। यह सोचकर यदि इसका प्रयोग वृद्धावस्था में प्रारंभ किया जाए तो अनुचित होगा। क्योंकि वृद्ध होने पर यह चिकित्सा अधिक लाभप्रद सिद्ध नहीं हो सकती। अतः यदि वृद्ध होने से पहले ही, जबकि शरीर में पाचन क्रिया तथा चयापचय क्रिया सामान्य रूप से कार्य कर रही हों ? तभी रसायन चिकित्सा प्रारंभ कर देनी चाहिए। इससे व्यक्ति को अधिक लाभ मिल सकता है। अर्थात् युवावस्था अथवा प्रौढ़ावस्था से ही रसायन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। इस चिकित्सा का प्रयोग करने से पहले निम्नलिखित दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है–

1. सर्वप्रथम, प्रयोगकर्ता के शरीर में स्थित अवांछित तथ्यों व मल पदार्थों का विसर्जन करके शरीर की शुद्धि करना आवश्यक हैं। इसके लिए संशोधन चिकित्सा यथा –विरेचन (Purgation), और वमन (Vomiting) या (Emetic) क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिए। शरीर की शुद्धि के बिना इस चिकित्सा से वांछित लाभ प्राप्त नहीं हो सकता।

2. प्रयोगकर्त्ता को यह सिखाया जाना चाहिए कि वहीं सोचें, वहीं बोले तथा वही कार्य करें, जो एक अच्छे स्वस्थ समाज के निर्माण में सहायक हो क्योंकि इस प्रकार आचरण व चिंतन से मानव शरीर पर स्वतः ही रसायन चिकित्सा का सही प्रभाव पड़ता हैं। उसका जीवन महत्वपूर्ण और जीवन्त बनता हैं। इसलिए आयुर्वेद में इस प्रकार के आचरण पर विशेष महत्व दिया गया हैं।

रसायन चिकित्सा के लिए योग्य व्यक्ति –

आयुर्वेद में औषधोपचार के क्षेत्र में भी चरित्र को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। रसायन चिकित्सा के लिए उपर्युक्त व्यक्ति का चयन करते हुए भी विभिन्न चरित्रिक गुणों को दृष्टि में रखा जाता है। जो व्यक्ति सत्यवादी व अक्रोधी हो, जो किसी अन्य को दुःख नहीं देता हो, आवश्यकता से अधिक श्रम एवं तनाव से दूर रहने वाला, स्पष्टवादी, पवित्र मन्त्रों का जप करने वाला व स्वच्छ रहने वाला विवेक शक्ति अर्थात् सूझ–बूझ की शक्ति रखने, भिक्षा अथवा दान देने वाला, धार्मिक आचार व्यवहार में निपुण, देवताओं, ब्राम्हणों, गुरूजनों, वृद्धों एवं गौओं की पूजा–सत्कार करने वाला, अहिंसा का आचरण करने वाला, दयालु, ठीक समय पर जागने और सोने वाला, नियमित रूप से दूध और घी का सेवन करने वाला, देश स्थान व ऋतु के अनुसार औषध की मात्रा एवं सेवन विधि आदि को जानने वाला सदाचार से युक्त, अहंकार व अभिमान से दूर रहने वाला, किसी भी प्रकार के चारित्रिक दोष से रहित, पथ्याहार व हितकर पदार्थो का सेवन करने वाला, धार्मिक व अध्यात्मिक स्वाभाव वाला अपने से बड़ों व देवताओं व ईश्वर पर विश्वास रखने वाले लोगों से स्नेह करने वाला, आत्म संयमी (अपने मन व इन्द्रियों को वश में रखने वाला) तथा धार्मिक व पवित्र पुस्तकों का अध्ययन करने वाला हो, उसे ही रसायन चिकित्सा का प्रयोग कराना चाहिए। क्योंकि ऐसे गुणों से युक्त व्यक्ति मानसिक दृष्टि से भी शान्त व स्थिर होता है। उसके ये गुण रसायन चिकित्सा के गुणों में और अधिक वृद्धि करके वांछित लाभ पहुंचाने में समर्थ बनाते हैं।

प्रयोग विधि –

आयुर्वेद के ग्रंथों के अनुसार रसायन चिकित्सा का प्रयोग निम्नलिखित दो प्रकार से किया जाता है।

1. **कुटी प्रावेशिक** – इस प्रकार के रसायन प्रयोग में व्यक्ति को एक विशेष प्रकार की कुटिया (Cottage) में निवास करना होता है। इसके लिए सभी प्रबन्ध करने होते है। इस प्रयोग के साथ व्यक्ति अपने दैनिक व सामान्य कामकाज, नौकरी आदि नहीं कर सकता। अतः सामान्य व्यक्ति के लिए इस प्रकार की रसायन चिकित्सा अनुकूल नहीं है।

2. **वाततापिक** – इस प्रयोग में व्यक्ति अपने सामान्य कार्य व्यवहार को करता हुआ रसायन चिकित्सा को अपना सकता है। इसमें औषधि सेवन के साथ प्रयोगकर्त्ता को पथ्य आहार विहार का सेवन करना होता है। अतः इस प्रकार की रसायन चिकित्सा सामान्य व्यक्ति के लिए अनुकूल पड़ती है।

अपथ्य –

रसायन चिकित्सा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को क्षार, अम्ल व कटु पदार्थों, तैल दूषित पदार्थों, मद्य, अम्ल तुषोदक (कॉजी), नीवार, कोद्रव, पनीर, दही तथा अधिक वसायुक्त पदार्थों को सेवन नहीं करना चाहिए। उसे मैथुन, रात्रिजागरण और चिन्ता से परहेज रखना चाहिए।

रसायन औषधियॉ –

रसायन चिकित्सा के उद्देश्य की दृष्टि से आयुर्वेद के ग्रन्थों में अनेक औषधियों को उपयुक्त माना गया है। इनमें प्रमुख है– आंवला, बहेड़ा, हरड़, गिलोय, ब्राम्ही, पुनर्नवा, मण्डूकपर्णी, मुलहठी, शंखपुष्पी और वायविडंग पिप्पली। इन औषधियों के अतिरिक्त कुछ अन्य औषधियॉ भी हैं। जो रसायन की दृष्टि से उपयोगी है। परंतु इनमें से कुछ औषध द्रव्य कुछ कुछ विषैले होते हैं, जैसे– भिलवा और वत्सनाभ प्रयोग से पहले इन औषधियों को विशेष प्रक्रिया द्वारा विष रहित बनाना आवश्यक है।

इन औषध द्रव्यों के अतिरिक्त कुछ खनिज पदार्थों जैसे पारद, गंधक, शिलाजीत और स्वर्ण को भी रसायन चिकित्सा के उद्देश्य से व्यापक रूप में इस्तेमाल किया जाता है। इन द्रव्यों को प्रयोग में लाने से पहले अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं द्वारा इन्हें विषमुक्त किया जाता है। इन्हें इस योग्य बनाया जाता है कि ये आसानी से शरीर में घुल मिल जाये और उसके अनुकूल बन जाये।

इन रसायन औषधियों के प्रयोग का ढ़ंग, समय, मात्रा व तैयार करने की विधि तथा रसायन चिकित्सा के दौरान होने वाले पथ्य व परहेज प्रत्येक औषधि के साथ अलग–अलग ही होते है। एक अनुभवी एवं योग्य चिकित्सक की देखरेख में ही इस चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

ऊपर लिखित औषधियों के स्वतंत्र उपयोग के अतिरिक्त, अनेक जड़ी बूटियों एवं औषधियों के मिश्रण से तैयार किये गये कुछ योग भी हैं, जिनका प्रयोग रसायन के रूप में प्रचलित है। इनमें एक सर्वाधिक लोकप्रिय योग है– च्यवनप्राश। रसायन के रूप में इसका सांकेतिक उल्लेख निम्नलिखित है।

च्यवनप्राश –

आयुर्वेदिक चिकित्सा च्यवनप्राश को औषधि के श्रेणी में न रखकर एक पौष्टिक आहार (Tonic) के रूप में मानते हैं।

मात्रा –

रासायनिक प्रभाव प्राप्त करने के लिए इसे दिन में दो बार खाली पेट में 2–2 बड़े चम्मच (30 ग्राम) की मात्रा में सेवन करना चाहिए। इसके साथ गाय का दुध लेना चाहिए। अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए इसका प्रयोग लम्बी अवधि तक करते रहना चाहिए। यह समयावधि प्रयोगकर्त्ता की आयु तथा उसकी शारीरिक एवं मानसिक स्थिति पर निर्भर करती हैं। धीरे–धीरे इस औषधि की मात्रा बढ़ानी चाहिए। यह औषधि बिल्कुल विषैली नहीं हैं, और न ही कोई हानि पहुंचाती है। हॉ, यदि इसकी मात्रा एकदम बढ़ा दी जाये, तो कभी–कभी पाचन शक्ति दुर्बल हो जाती है।

पथ्याहार –

यदि इस औषधि के साथ दूध और दूध से बने पदार्थो का अधिक मात्रा में सेवन किया जाए तो वह बहुत लाभ होता है। परंतु ये पदार्थ खट्टे (जैसे दही) नहीं होने चाहिए। यदि प्रयोगकर्ता का शरीर मोटा नहीं है और उसकी पाचन शक्ति अच्छी हैं, तो उसे वसायुक्त तथा कार्बोहाइड्रेट वाले पदार्थों का सेवन अधिक मात्रा में करना चाहिए। गाय की घी तो औषधि के प्रभाव में वृद्धि करता है। इस रसायन के सेवन काल में खट्टे पदार्थ नहीं खाने चाहिए। यदि सामान्य समुद्री नमक के स्थान पर सैन्धव नमक (rock salt)का प्रयोग किया जाये तो
औषधि का प्रभाव अधिक बढ़ जाता है।

अन्य आचार व्यवहार –

इस औषधि का प्रयोग करते समय प्रयोगकर्ता को चिन्ताओं और परेशानीयों से यथा सम्भव दूर रहना चाहिए। मैथुन से परहेज रखना चाहिए। इस औषधि अथवा किसी अन्य औषधि का रसायन प्रभाव प्राप्त करने ब्रम्हचारी रहना सर्वश्रेष्ठ उपाय हैं।

हरड़ : एक रसायन

हरड़ भी एक अच्छा रसायन द्रव्य है। इसका बीज निकालकर शेष फल का चूर्ण बनाकर सेवन किया जाता है। विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न अनुपातों के साथ सेवन करने से यह औषधि रसायन का कार्य करती है। यथा–

ऋतु	अनुपान
वर्षा	सेधा नमक
शरद	चीनी
हेमन्त	सोंठ का चूर्ण
शिशिर	पिपली चूर्ण
वसन्त	शहद
ग्रीष्म	गुड़

मात्रा – एक छोटा चम्मच (5 ग्रा.) प्रतिदिन नियमित रूप से लेना चाहिए। रोगी के कोष्ठ के अनुसार मात्रा न्यून अथवा अधिक की जा सकती है।

रसायन से लाभ – यह अमृत के समान होता है, आयु बढ़ाने वाला, आरोग्य प्रदान करने वाला, उम्र को स्थिर रखने वाला, निद्रा, तन्द्रा, श्रम, क्लम, आलस्य दुर्बलता को दूर करने वाला होता है। वात, पित्त, कफ को साम्य अवस्था में रखता है। शरीर में स्थिरता उत्पन्न करता है, शिथिल, मांस पेशीयों को सुसंगठित करता है। जाठराग्नि को प्रदीप्त करता है। प्रभा (चमक) वर्ण, स्वर को उत्तम बनाता है।

रसायन का महत्व – रसायन सेवन से उत्तम स्वास्थ की प्राप्ति होती ही है साथ ही उत्तम गति एवं अक्षर ब्रम्ह (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

आचार रसायन –

1. सत्य बोलने वाले, क्रोध न करने वाले।
2. मदिरा एवं मैथुन से दूर रहने वाले।
3. हिंसा न करने वाले, शान्त, प्रियवाद जाप एवं परिश्रम करने वाले।
4. धीर, दानी, तपस्वी, देवता गौ, ब्राम्हण, आचार्य, गुरू, वृद्ध जनों की पूजा करने वाले।
5. क्रूरता से दूर, सर्वदा दया से पूर्ण।

6. उचित समय में सोना एवं जागने वाले।
7. दूध, दही, शहद का सेवन करने वाले।
8. देश, काल, मात्रा को जानने वाले।
9. अध्यामिक, आस्तिक, धर्म ग्रन्थ पढ़ने वाले।

ऐसे व्यक्ति सदा रसायन युक्त होते है। अर्थात् ऐसे व्यक्ति यदि रसायन सेवन न भी करे तो रसायन सेवन का लाभ मिलता है। और यदि रसायन सेवन करता है तो रसायन के सभी गुणों को प्राप्त होता है।

रसायन के गुण – रसायन के सेवन करने से मनुष्य की दीर्घ आयु, स्मरण शक्ति धारणा शक्ति आरोग्य, तरूणावस्था, प्रभा (शरीर की चमक), वर्ण (गोरा, कृष्ण), स्वर (वाणी–आवाज) का उदार होना। नम्रता शरीर में सुन्दरता इन सभी गुणों को प्राप्त करता हैं।

रसायन औषधि निर्माण विधि –

च्यवनप्राश –

1. ताजा ऑवला – 500,

2. अन्य औषधी द्रव्य जैसे बेल की छाल, गनियार की छाल, सोनापाठा छाल, गम्भारी की छाल, पाठल की छाल, बरियरा का मल, सरिवन, पिठिवन, पनभूंग, पीपर, गोखरू, भूमि आंवला मुनक्का, जीवन्ती, पुष्करमूल, हर्रा, गुरूचि, जीवक, ऋषभक, मोथ, बड़ी इलायची, लाला चन्दन, नील कमल, चिदारी कन्द, अडूसा, की पत्ती, प्रत्येक एक–एक किलो। 25 किलो पानी में उपरोक्त द्रव्यों का क्वाथ बनाते है एवं उसी हंडी में 500 आंवला को पोटली में बांधकर डाल देते है। जब ऑवला पूरी तरह उबल जाय एवं औषधी द्रव्य पूरी तरह उबल जाय तो क्वाथ को मसल छान लेते है और औषधि द्रव्यों के छिलका या कचरे को फेक देते हैं।

उबले ऑवले को मसल कर गुठली एवं रेशे को छानकर अलग कर लेते है। छाना हुआ गुदा को गोधृत एवं तिल तैल 250 ग्रा. लेकर भून लेते है। ऑवला लाल भूने जाने पर उतार लेते है। पूर्व में छाने क्वाथ में एक किलो मिश्री डालकर चासनी बना लेते है फिर इस चाशनी में ऑवला गुदा डाल कर धीमे 2 भग में पकाते है आंवले बन जाने पर 250 ग्राम शहद, 100 ग्राम वंशलोचन, 100 ग्राम पीपर इलायची दाना, दालचीनी, तेजपत्ता, नागकेसर, सभी 50 ग्राम का चूर्ण को ऑवले में मिला देते है इस प्रकार च्यवनप्राश रसायन तैयार हो जाता है।

च्यवनप्राश का गुण एवं मात्रा –

इसे रोगी के बल के अनुसार देते है जिससे भोजन की मात्रा में न्यूनता न आये।

खॉसी, धातु क्षय, वृद्ध, बालक, युवा में सभी रोगों में बल, ओज, धातु की वृद्धि के लिए देते है। इस रसायन के प्रयोग से अत्यंत वृद्ध च्यवन ऋषि युवा हो गये थे।

आमलकी रसायन –

चार – आँवला।
दो भाग – हरड़।
दो भाग – बहेरा।

इन सब को गीली पलास की छाल लपेट कर ऊपर से मिट्टी के एक अंगुल मोटी तह में लपेट लेते है इसे छाया में सुखा लेते है। इस तरह सुखी गोले को उपले की ऑच में पकाते है। उब मिट्टी का गोला हो कर लाल हो जाये, बाहर निकाल लेते है। गुदा, रेशे निकालकर साथ गुदा में, दही, घृत, मधु, तिल का कल्क, तिल का तैल चीनी मिलाकर रखते है।

सेवन विधि – आचार्यो के निर्देश अनुसार –सुबह, शाम प्रयोग करते है। एवं दूध पीने को देते है। जब इसकी प्रयोग अवधि समाप्त हो जाती है तो यवागु, पुराने चॉवल या मुंगदाल का युष देते है एवं धीरे–धीरे प्राकृत भोजन पर लाते है।

आचार्यों ने कहा है कि रस रसायन का प्रयोग त्रुटि प्रवेश विधि से करते है।

गुण – बल, वर्ण, आयु, बुद्धि एवं धातुओं को बढ़ाने वाला रसायन होता है।

हरीतक्यादि रसायन –

हरण, आंवला, बहेरा, समान मात्रा में। पंचमूल क्वाथ से उबालकर, गुलठी, रेशे अलग कर गुदा में,

जीवनीय द्रव्य, पीपर, महुआ फुल, मिलाकर गो दूग्ध, घी में पकाते है।

मात्रा – अग्निबल के अनुसार प्रयोग करते है। इसके सेवन के समय दूध, घृत, पुराना चांवल का भोजन कर गरम पानी पीते है।

इसके सेवन से आयु, धातु, बल, वर्ण में वृद्धि होती है।

वर्धमान पिप्पली रसायन –

1. पिप्पली की मात्रा – बलवान पुरूष को 10 पिप्पली का कलक बनाकर,

दूध के साथ सेवन करे, प्रतिदिन 10 नग पिप्पली की संख्या बढ़ाये इस तरह 1000 पिप्पली तथा सेवन करे। पुनः 10 पिप्पली कम करते जाये। पिप्पली सेवन कर पच जाने पर, पुराने साठी चावल गोधुत एवं दूध भोजन के रूप में देते है।
2. मध्यम बल वाले व्यक्ति में 6 पिप्पली का क्वाथ प्रतिदिन 6 नग बढ़ाते हुये 1000 पिप्पली दे।
3. हीन बल या कमजोर व्यक्ति में 3 पिप्पली को चूर्ण का प्रयोग करें एवं प्रतिदिन 3 पिप्पली बढ़ाये इस प्रकार वर्धमान पिप्पली बल, आयु, बुद्धि, धातु को बढ़ाने वाला देता है।
वाग्भह में प्रतिदिन 3 पिप्पली का फाण्ट मधु एवं गोधृत के साथ 100 दिन या 30 पिप्पली तक करे और पुनः 3 पिप्पली पर आ जाये।

बाजीकरण चिकित्सा परिभाषा एवं महत्व

परिभाषा – जो स्वस्थ व्यक्ति में ऊर्जस्कर (ओज या उसी के तरह भावों को बढ़ाने वाली) होती है। वही प्रायः वृष्य और वही रसायन होती है अर्थात् जो भैषज अपव्य संतान (संतानोत्पत्ति) शक्ति को, मैथुन विषयक हर्ष को उत्पन्न करने वाला हो, जिस भैषज के सेवन करने से पुरूष वीर्यवान हो, जिससे शरीर में रस से लेकर शुक्र पर्यन्त धातुओं की पुष्टि होती है। एवं जिससे वृद्धावस्था हो जाने पर भी शुक्र का क्षय नहीं होता। बल वर्ण की वृद्धि होती है। उसे बाजीकरण औषधि कहते है।

बाजीकरण द्रव्य –

1. आयुर्वेद शास्त्र में स्त्री को सर्वोत्तम बाजीकरण माना गया हैं। जो स्त्री सुन्दर रूप वाली, युवावस्था में हों, सुन्दर लक्षणों से युक्त हो, अपने वश में हो और शिक्षित हो तो वह अधिक वृष्य (बाजीकरण) होती है।
2. शुक्रलवर्ग, जीवनीय वर्ग, बृहंण वर्ग, बलवर्धन वर्ग, क्षीर सजनन (स्वस्थ स्त्राव कराने) द्रव्यों को दूध में पका कर, गेहुं के आटा साथ, चीनी, शहद डालकर पुनः पकाकर प्रयोग करते है।
3. जीवनीय द्रव्य, उरद आटा, गेहुं आटा, 1किलो लेकर चौ गुना दूध में पकाकर, मधु, घृत, चीनी मिलाकर प्रयोग करते है।
4. वृष्य–पूपलिका योग – जीवनीय, स्निग्ध और रूचिकर फलों का चूर्ण, उड़द की दाल का चूर्ण प्रत्येक 250ग्राम, तिल का चूर्ण, मूंग का चूर्ण, 200 ग्राम गेहुं का आटा 200 ग्राम चांवल आटा, गोघृत 200ग्राम . सब को मिलाकर दूध से गुथ कर पुआ पकाते है, इसका सेवन वृष्य (शुक्रवर्धन) होता है।

5. शतावरी घृत – गोघृत 1किलो, दुध 10 किलो, शतावरी कल्क 2किलो सब द्रव्य एक साथ मिलाकर पकाया जाता है। दुध और जाने के बाद उलट कर 1 से 2 ग्राम चीनी, मधु, पिप्पली चूर्ण के साथ प्रयोग करते है।
6. रसायन सेवन विधि की तरह वाजीकरण द्रव्य प्रयोग करने वाले व्यक्ति में पंचकर्म के द्वारा शरीर का शोधन किया जाता है। जिसमें भी तीन कर्म, पूर्वकर्म, प्रधान कर्म एवं पश्चात् कर्म करते है।
7. मुलेठी चूर्ण, गोघृत, मधु प्रत्येक 1 कर्ष लेकर एक में मिलाकर सेवन करें एवं साथ में दूध पीने से व्यक्ति हमेशा वीर्यवान होता है।
8. बाजीकरण प्राकृतिक स्थिति – फूलों से युक्त बाग, जलाशय, सुगंधित घर, सुरम्य नदी, पहाड़ों से युक्त जगह बाजीकरण शक्ति को बढ़ाता है।
9. आयुर्वेद शास्त्र में हमेशा दूध, घृत का सेवन करने वाला व्यक्ति को शुक्रसार कहा गया है।
10. रोहू मछली को गोघृत में भूनकर खाना, शुक्रवर्धक एवं बाजीकरण होता है। बाजीकरण अध्याय में निम्न बिन्दुओं पर भी ध्यान देगें, जैसे –

1. **शुक्र का स्थान** – जिस प्रकार दूध में घृत व्याप्त रहता है। उसी प्रकार शुक्र भी पुरूष के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है।

2. **शुक्र के बाहर निकलने का कारण** – वह शुक्र स्त्री–पुरूष के संयोग होने पर पुरूष की चेष्टा से, स्त्री में प्रेम करने पर, अपने स्थान से चलकर श्िश्नेन्द्रिय द्वारा उसी प्रकार बाहर आता है, जिस प्रकार गीले कपड़े के निचोड़ने पर जल निकल आता है।

3. **शुक्र प्रवृत्ति के आठ कारण** –

(अ) हर्ष (ब) तर्ष (स्त्रियों की इच्छा) (स) वीर्य की सरता (द) वीर्य की पिच्छिलता, (क) वीर्य की गुरूता (ख) वीर्य का अणु (सूक्ष्म होना) (ग) बाहर निकलने का स्वभाव (घ) शुक्र को प्रेरणा देने वाली वायु का शीघ्रगामी होना। आचार्यो ने शुक्र को आत्मा रूपी द्रव्य माना है।

सन्तानोत्पादक शुक्र का लक्षण – जो शुक्र बहल (गाढ़ा), रस में मधुर, गुण में स्निग्ध, दुर्गन्ध रहित, पिच्छिल(चिपचिपा), वर्ण में शुक्ल और स्त्राव के समय अधिक मात्रा में निकले वह संतान रूप फल को देने वाला होता है।

सारांश –

इस इकाई में आपने रसायन विज्ञान का अध्ययन किया जिसमें–

- रसायन चिकित्सा की परिभाषा, परिचय का अध्ययन किया।
- रसायन द्रव्यों से परिचत हुये।
- रसायन प्रयोग विधि का ज्ञान प्राप्त किये।
- बाजीकरण चिकित्सा की परिभाषा।
- बाजीकरण औषधियों से परिचित हुये।

4. बाजीकरण औषधियों में से किन्हीं पांच का प्रयोग लिखें।

अभ्यास प्रश्न –

1. रसायन की परिभाषा लिखकर इनकी विधि एवं महत्व लिखें।
2. रसायन द्रव्यों का नाम लिखकर किन्हीं दो रसायन औषधि बनाने की विधि लिखें।
3. बाजीकरण चिकित्सा की परिभाषा लिखकर, उसकी व्याख्या एवं प्रयोग लिखें।
4. बाजीकरण औषधियों में से किन्ही पांच का प्रयोग लिखे।

चिकित्सा विज्ञान एवं पंचकर्म

इकाई – 10

इकाई की रूप रेखा

1. उद्धेश्य
2. प्रस्तावना
3. विषय वस्तु
   - योग की परिभाषा एवं महत्व।
   - स्वास्थ्य संरक्षण एवं संवर्धन में योगासन का महत्व।
   - अष्टाँग योग परिचय।
   - योगासन का महत्व।
   - मुख्य आसन विधि परिचय।
   - विभिन्न रोगों में आसनों का प्रयोग।
4. सारांश।
5. अभ्यास प्रश्न।

उद्धेश्य

यह चतुर्थ प्रश्न पत्र की पाँचवी एवं अंतिम इकाई है। इस इकाई में योग विज्ञान के विषयों का संक्षिप्त परिचय देंगे। जिसे पढ़ने के पश्चात आप :–
योग विज्ञान से परिचित हो अपने स्वास्थ बनाये रखने में समर्थ होंगे।
योग का महत्व एवं महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग से परिचित होंगे। विभिन्न आसनों को समझेंगे। सरल आसनों का प्रयोग कर रोगों से मुक्ति पायेंगे।

प्रस्तावना

यह आयुर्वेद प्रबोध पाठ्यक्रम के अंतर्गत अंतिम प्रश्न पत्र की पाँचवी एवं अंतिम इकाई है पूर्व के इकाईयों में आयुर्वेद के मुख्य सभी विषयों को सरलता से अध्ययन कराया गया है। आयुर्वेद शास्त्र के सब से निकटतम विषय योग विज्ञान है। अतः इस प्रश्न पत्र में इस विषय का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। आयुवेद के अनुसार दिनचर्या रात्रीचर्या ऋतुचर्या के साथ–साथ यदि योगाभ्यास भी रहे तो निश्चिय है कि आप अपने जीवन को सुखमय बना सकते है। अष्टांग योग के अंतर्गत योग के आठ अंगों का विधिवत अध्ययन करेंगे साथ ही योगासन का शरीर पर प्रभाव एवं कुछ सरल आसनों की विधि जिसका अभ्यास किया जा सकता है उसका ज्ञान प्राप्त करेंगे। यह सच है कि आसनों का अभ्यास योग शिक्षक के सन्निध्य में करना चाहिए अतः यहाँ पर अत्यंत सहज आसन बताये गये है। जिसका प्रयोग किया जा सकता है।

इस तरह आयुर्वेद प्रबोध के अंतर्गत बताये गये आयुर्वेद के मूल सिद्धांत एवं जीवनयापन के नियम साथ ही अष्टांग योग का पालन करने वाले विषयों का अध्ययन कर जीवन को सुख समृद्धि एवं आत्मबल से परिपूर्ण कर सकते है।

विषय वस्तु

योग की परिभाषा

1. वृत्तियों के निरोध की क्रियाओं को योग कहते है।
2. चंचल वृत्तियों के निषेध के लिए शरीर को उपयुक्त बनाने के साधन को योग कहते है।
3. जीवन, आत्मा, परमात्मा के एकीकरण को योग कहते है।
4. मनुष्यके व्यक्तित्व के साथ शारीरिक मानसिक बौद्धिक तथा आध्यात्मिक एकीकरण को योग कहते है।

योग का महत्व एवं प्रयोग :–

1. मानसिक तनाव को दूर करने के लिये।
2. शारीरिक एवं मानसिक रोगों के शमनार्थ एवं चिकित्सार्थ।
3. फिजिकल मेडिसिन के रूप में।
4. शरीर सौष्ठव तथा शरीर सुन्दरता के लिए।
5. आध्यात्मिक विकास के लिए।

योग के भेद :–

योगाचार्यो ने योग के कई भेद किये है।

1. ज्ञान योग
2 भक्ति योग
3. मंत्र योग
4. लय योग
5. राजयोग
6. हठयोग
7. आसन
8. प्राणायाम
9. ध्यान
10 समाधि

योग के मौलिक स्वरूप का अध्ययन तीन शास्त्रों के अंतर्गत किया गया है।

1. प्राचीन उपनिषद्।
2. भगवतगीता।
3. पंतजलि योगसूत्र।

आयुर्वेद एवं योग का संबंध :–

योग आयुर्वेद का ही एक अंग है क्योकि शरीर, मन, इन्द्रिय, आत्मा, के संयोग को आयु कहा जाता है। तथा आयुर्वेद जीव की स्वास्थ परिरक्षण तथा व्याधि के निदान लिंग तथा चिकित्सा का दायित्व लेकर चलता हैं यही योग का भी सिद्धांत है।

योग चेतना और सत्व का विज्ञान है आयुर्वेद का पंचकर्म तथा हठ योग के ग्रंथों में वर्णित लगभग सभी

कर्म सामान्य है। योग और आयुर्वेद प्राचीन ग्रंथ तथा एक साथ उत्पन्न हुई विद्या है। एवं दोनों का उद्धेश्य

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति है। योग के यम, नियम आदि आठ अंगों में आयुर्वेद के विषय आचार संहिता

सदवृत, ऋतुचर्या, दिनचर्या, का पालन किया जाता है। अतः यह प्रामाणित है कि आयुर्वेद और योग एक ही

सिक्के के दो पहलु है।

स्वास्थ्य सरंक्षण एवं संवर्धन में योगासन का महत्व :–

पुरूष की शारीरिक मानसिक एवं अध्यात्मिक व सामाजिक दृष्टि से सुख की अवस्था ही स्वास्थ्य है। अनेक स्वास्थ्य कर इन्द्रिय भावों में योग का विशेष महत्व है। योग की विविध क्रिया आसन प्राणायाम, आदि शरीर के लिए स्पष्ट रूप से स्वस्थ कर है ही साथ ही इनका मानव स्वास्थ्य पर विशेष प्रभाव होता है। योग के नियम के पालन से व्यक्तिगत एंव सामाजिक स्वास्थ्य सुधरता है या बेहतर रहता है। वही दुसरी ओर प्रत्याहार धारणा ध्यान तथा समाधि का अभ्यास मानस तथा अध्यात्मिक स्वास्थ के लिए हितकर तथा आरोग्य कर होता है।

योग के अभ्यास से तनाव कम होता है। साथ ही मानव के मन एवं देह के सामंजस्य में वृद्धि होती है। मन तथा शरीर का सन्तुलन बना रहता है। कार्य क्षमता बढ़ती है। विभिन्न प्रकार के आसन, प्राणायाम, बंध, मुद्रा तथा षड्कर्म के अभ्यास से शरीर एवं मन शुद्ध होकर अत्यधिक जीवनीय शक्ति युक्त हो जाता है।और रोग की आशंका कम हो जाती है। आसन की विशिष्ट अवस्थाओं में शरीर के उस अंगों में रक्त संचार की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। जैसे :–

1. सर्वांग आसन की अवस्था में थाइराइड ग्रंथि का रक्त प्रवाह बढ़

जाता है। फल स्वरूप उसकी
कार्य क्षमता भी बढ़ जाती है।

2. योग के कुछ आसन एवं मुद्रा ऐसे होते है जिससे शरीर के अंग जैसे आमाशय, आंत, अग्नाशय
आदि कोष्ठांग की आन्तरिक मालिस हो जाती है।

3. योगाभ्यास की विभिन्न स्थितियों में कोष्ठागों की दिवारों के दबाब बढ़ने घटने से उन–उन स्थानों
में रक्त प्रवाह बढ़ जाती है। जिससे कई प्रकार की प्रत्यावर्तन क्रियाएं सम्पन्न होती है।

4. योगाभ्यास शरीर के अंगों पर दो तरह का प्रभाव डालता है।

1. प्रत्यक्ष प्रभाव

2. मानस प्रभाव जिससे मन तथा शरीर का तनाव कम होता है।

इन प्रभावों के शारीरिक अध्ययन से सिद्ध हो चुका है कि स्वास्थ्य परिरक्षण के अतिरिक्त विभिन्न
प्रकार के रोगों की चिकित्सा में योग का प्रभाव महत्वपूर्ण है।

अष्टांग योग परिचय :–

आचार्य पंतजलि के योग दर्शन के आठ अंग माने गये है। जिन्हें ही अष्टांग योग कहा जाता है। इसके
अंतर्गत ।

1. यम 2. नियम 3. आसन 4. प्राणायाम 5. प्रत्याहार 6. धारणा 7. ध्यान 8. समाधि इन आठ अंगों का समावेश होता है।

अष्टांग योग की उपयोगिता :–

संसार के व्यक्ति सुख व शांति चाहते है तथा विश्व में जो कुछ भी व्यक्ति कर रहा है। उसका एक ही मुख्य लक्ष्य है कि इससे उसे सुख मिलेगा। व्यक्ति ही नहीं कोई भी राष्ट्र अथवा विश्व के सम्पूर्ण राष्ट्र मिलकर भी इस बात पर सहमत है। कि विश्व में शांति स्थापित होनी चाहिए। महर्षि पंतजलि प्रतिपादित अष्टांग योग का पथ राष्ट्रीय होनी चाहिए एकता एवं अखण्डता का प्रतीक है यह कोई मत–पथ या सम्प्रदाय नही अपितु जीवन जीने की सम्पूर्ण वृत्ति है इस संसार के लोग वास्तव में इस बात को लेकर गंभीर है कि विश्व में शांति स्थापित होनी ही चाहिए। तो इसका एकमात्र समाधान है, अष्टांग योग का पालन। अष्टांग योग के द्वारा ही वैयत्तिक व

सामाजिक समरसता, शारीरिक स्वास्थ्य बौद्धिक जागरण, मानसिक शान्ति एवं आत्मिक आनंद की अनुभूति हो सकती है। महर्षि पतंजलि योग सूत्रों में लिखते है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये योग के आठ अंग है। इस सब योग अंगों का पालन किए बिना कोई भी व्यक्ति योगी नहीं हो सकता। यह अष्टांग योग केवल योगियों के लिए ही
हीं अपितु जो भी व्यक्ति जीवन में स्वयं पूर्ण सुखी होना चाहता है। तथा प्राणिमात्र को सुखी देखना चाहता ह। उन सबके लिए अष्टांग योग का पालन अनिवार्य है। अष्टांग पर खरा उतरता है। इस दुनिया के खूनी संघर्ष को यदि किसी उपाय से रोका जा सकता है तो वह अष्टांग योग ही है। अष्टांग योग में जीवन के समान्य व्यवहार से लेकर ध्यान एवं समाधि सहित अध्यात्म की उच्चतम अवस्थाओं का अनुपम समावेश है। जो भी व्यक्ति अपने अस्तित्व की खोज में लगा है तथा जीवन के पूर्ण सत्य से परिचित होना चाहता है, उसे उष्टागा योग का अवश्यही पालन करना चाहिए। यम और नियम अष्टांग योग के आधार है।

यम :–

अष्टांग योग का प्रथम अंग है यम जिसका अर्थ है अनुष्ठान से इन्द्रियों एवं मन को हिंसादि अशुभ भावों से हटाकर आत्मकेन्द्रित करना है। महर्षि पतंजलि ने इन यमों की परिगणना इस प्रकार की है अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रम्हाचर्य, तथा अपरिग्रह ये पाँच यम है। अब हम क्रमशः इनका संक्षेप में वर्णन करते है।

1. अहिंसा –

अहिंसा का अर्थ है किसी भी प्राणी को मन, वचन तथा कर्म से कष्ट न देना। मन में भी किसी का अहित न सोचना, किसी को कटुवाणी आदि के द्वारा भी कष्ट न देना तथा कर्म से भी किसी भी अवस्था में, किसी भी स्थान पर किसी भी दिन किसी भी प्राणी की हिंसा न करना यह अहिंसा है।

2. सत्य :–

जैसा देखा सुना तथा जाना हो वैसा ही शुद्ध भाव मन में हो, वही वाणी में तथा उसी के अनुरूप कार्य हो तो वह सत्य कहलाता है। दूसरों को ऐसा वाणी कभी नही बोलनी चाहिए, जिसमें छल कपट हो, भ्रान्ति पैदा होती हो अथवा जिसका कोई प्रयोजन न हो। ऐसी वाणी बोलनी चाहिए जिससे किसी प्राणी को दुख न पहुंचे। वाणी सर्वभूतहिताय होनी चाहिए। दूसरों की हानि

करने वाली वाणी पापमयी होने से दुःखजनक होती है। अतः परीक्षा करके सब प्राणियों का हित करनेवाली वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए।

3. अस्तेय :–

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। दूसरों की वस्तु पर बिना पूछे अधिकार करना अथवा शास्त्रविरूद्ध ढंग से वस्तुओं का ग्रहण करना स्तेय चोरी कहलाता है। दूसरों की वस्तु को प्राप्त करने की मन में लालसा भी चोरी है। अतः योगी पुरूष को न तो चोरी करनी चाहिए न ही किसी से करवानी चाहिए, अपितु भगवान ने जो कुछ प्रदान किया है, उसमें पूर्ण सन्तुष्ट व आनन्दित रहना चाहिए।

4. ब्रम्हचर्य :–

कामवासना को उत्तेजित करने वाले खान–पान दृश्य, श्रृंगारादि का परित्याग कर सतत वीर्य रक्षा करते हुए ऊर्ध्वरेता होना ब्रम्हचर्य कहलाता है। अष्टविध मैथुन वासना की दृष्टि से किसी का दर्शन स्पर्शन, एकान्तसेवन भाषण, विषय कथा, परस्पर क्रीडा विषय को इनसे आंख कान, नाक, त्वचा व रसना पर नियंत्रण रखना चाहिए। साधक को सदा ही अपने मन में इन विचार को दृढ़ रखना चाहिए कि मेरी स्वाभाविक अवस्था विकार रहित है। जैसे जल का स्वाभाविक गुण शीतलता व द्रवत्व बनकर उड़ना ये गुण उसके स्वाभाविक अवस्था में ही वापस लौट आता है, इसी तरह ब्रम्हचर्य हमारी स्वाभाविक अवस्था है।

5. अपरिग्रह :–

परिग्रह का अर्थ है चारों ओर से संग्रह करने का प्रयत्न करना। इसके विपरीत जीवन जीने के लिए न्यूनतम धन वस्त्र आदि पदार्थो व मकान से संतुष्ट होकर जीवन के मुख्य लक्ष्य ईश्वर आराधना करना अपरिग्रह है। ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार जीवन में जो कुछ भी धन वैभव भूमि भवन आदि ऐश्वर्य हमें प्राप्त हो उनकों कभी भी अहंकार के वशीभूत होकर अपना नही मानना चाहिए तथा भौतिक सुख तथा ब्रम्ह सुख के साधनों की इच्छा भी साधक को नहीं करनी चाहिए। अनासक्त भाव से जीवन जीते हुए अपने आप जो भी सुख साधन उपलब्ध हो उनका उपयोग दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए करना चाहिए।

विषम रूप धनादि भोग्य पदार्थो के अर्जन (संग्रह) करने में दोष, और हिंसा अर्थात् प्राणियों को बिना पीड़ा दिए सुख का उपभोग संभव नहीं है।

इसलिए लौकिक सुख भोग में हिसांकृत दोष भी है। अतः योगी पुरूष को विषयों के प्रति अनासक्त रहकर अपरिग्रह कर पालन करना चाहिए। इन सभी यमों अहिंसा व सत्यादि का पालन मन वचन तथा कर्म से करना चाहिए तथा इसमें किसी तरह की कोई सीमाएँ नहीं है। महर्षि पंतजलि कहते है।

अर्थात जाति, देश काल तथा समय से अनवंछिन्न अप्रतिबद्ध अर्थात् इनकी सीमाओं के बंधन से उपर उठकर इन अहिंसादि का चित्त की सभी अवस्थाओं में पालन किया जाता है तो ये अहिसादि महाव्रत कहलाते है। इन व्रतों के पालन करने में सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो बड़ी कठिनाई आती है। इसलिए व्यक्ति कुछ सीमाएं निर्धारित कर लेता है और इन अहिंसा सत्य व अस्तेय आदि का जाति अर्थात वर्ग विशेष देश, विशेष काल विशेष तथा समय विशेष की सीमाओं में बांध लेता है। उदाहरण के लिए हम अहिंसा को ही लेते है। जैसे एक व्यक्ति मछुआरा है वह मछली मारकर बेचता व खाता है यह उसकी हिंसा हुयी परन्तु वह गाय भेड़ बकरी आदि को नहीं मारता यह उसकी अहिंसा हो गई। परन्तु यह अहिंसा पूर्ण अहिंसा नहीं होगी क्योकि यह अहिंसा जाति में बंधी हुई है। जैसे कि मैं काशी मथुरा या हरिद्वार आदि तीर्थो पर हिंसा नही करूंगा अर्थात इन तीर्थे से मैं हिंसा कर सकता हूँ। ऐसा सोचने वाला देश तक भी यही बात हैं पूरा अहिंसक नहीं है। काल के सम्बंध में भी यही बात है जैसे कि मै एकादशी, पूर्णमासी अमावस्या या मंगलवार आदि या किसी पर्व विशेष के दिन हिंसा नहीं करूंगा। यह काल की सीमा में बंधी हुई अहिंसा हो गयी। इसी प्रकार से समय की सीमाओं के संबंध ा में है जैसे कि मै सामान्य अवस्था में तो नहीं परन्तु विशेष अवस्था में जब मुझ पर कोई संकट विशेष होगा तो मै हिंसा करूंगा। यह भी पूर्ण अहिंसा नहीं है। पूर्ण अहिंसा तब होगी जब सब सीमाओं से उपर उठकर सर्वथा सर्वदा, सर्वत्र स्थानों सब प्राणियों के प्रति सब परिस्थितियों में सब स्थानों पर बिना हेर फेर के सहज रूप से इनका पालन किया जायेगा।

इसी प्रकार से सत्य–अस्तेय ब्रम्हचर्य व अपरिग्रह के संबंध में जानना चाहिए। जैसे सामान्य रूप से मैं किसी ब्राम्हाण व गौ आदि की रक्षा के लिए तो झुठ बोलूंगा। यह जाति परक झूठ हो गया देश–स्थान विशेष अर्थात हरिद्वार आदि तीर्थो या गुरूकुल मठ अथवाा अंयंत्र व्यापार वा न्यायालय आदि राजकार्यो में असत्य भी बोलूंगा सामान्य अवस्था में नहीं यह सब पूर्ण सत्य नही सम्बंध में भी जानना चाहिए। सब सीमाओं के बंधन से उपर उठकर मन

वचन तथा कर्म से इन यमों का प्रत्येक साधक को पालन करना चाहिए।

नियमः

शौच संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्राणिधान ये पांच नियम है।

1. शौच :–

शौच कहते है शुद्धि को, पवित्रता को यह शौच शुचिता या पवित्रता भी दो प्रकार की होती है एक बाह्यय दूसरी आभ्यन्तर। महर्षि मनु ने शौच के सबंध में बहुत ही सुन्दर कहा है।

साधक को प्रतिदिन जल से शरीर की शुद्धि सत्य वचन से मन की शुद्धि करनी चाहिए। भगवती गंगा आदि के पवित्र जल से भी शरीर की शुद्धि हो सकती है। मन बुद्धि एवं आत्मा की शुद्धि के लिए तो ऋषियों द्वारा बताये गये उपायों को करना ही होगा।

2. संतोष :–

अपने पास विद्यमान समस्त साधनों से पूर्ण पुरूषार्थ करें। जो कुछ प्रतिफल मिलता है उससे पूर्ण सन्तुष्ट रहना और अप्राप्त की इच्छा न करना अर्थात पूर्ण पुरूषार्थ एवं ईश्वर कृपा से जो प्राप्त हो उसका तिरस्कार न करना तथा अप्राप्त की तृष्णा न रखना ही संतोष है।

संतोष रूपी अमृत के पान करने से तृप्त हुए शांतचित्त मनुष्यों को जो आत्मिक व हार्दिक सुख मिलता है, वह धन वैभव की व्याकुलता में इधर–उधर भटकनें वाले मनुष्यों को कभी भी नहीं मिल सकता अंयत्र भी कहा है सुख का मूल आधार संतोष है। और इसके विपरीत तृष्णा–लालसा दुःखों का मूल है। उपनिषद में ऋषि कहते है। धन के द्वारा मनुष्य की कभी भी तृप्ति नहीं हो सकती अतः साधक को पूर्ण पुरूषार्थ करते हुए उसका जो भी प्रतिफल ईश्वर अपनी न्यायवयवस्थानुसार प्रदान करते है। उसमें पूर्ण संतुष्ट रहना चाहिए और यह कभी भी भूलना नहीं चाहिए कि ईश्वर सदा ही हमारी आवश्यकता और पात्रता से अधिक ही हमें रूप, यौवन धन, समृद्धि व समस्त वैभव प्रदान करते है।

3. तप :– द्वन्दों का सहन करना तप है। अपने सदउद्धेश्य की सिद्धि में जो भी कष्ट बाधाएं प्रतिकुलताएं आएं उनको सहजता से स्वीकार करते हुए निरन्तर बिना विचलित हुए अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना तप कहलाता है। अपने कर्त्तव्य के पालन में जो भी विघ्न बाधाएं आएं उन्हें सहते हुए निरन्तर अपने स्वधर्म का पालन करना ही तप है। ये द्वन्द्व हैं भूख–प्यास सर्दी–गर्मी

सुख–दुःखहानि –लाभ मान–अपमान स्तुति–निन्दा सत्कार–तिरस्कार जय–पराजय आदि। इन सब परिस्थितयों में सम रहना तप है न कि अग्नि के बीच तपना या एक पैर पर खड़े होकर अपने शरीर को कष्ट देना आदि।

4. स्वाध्याय :–

प्रणव–ओंकार का जप करना तथा मोक्ष की ओर ले जाने वाले वेद–उपनिषद योग दर्शन गीता आदि जो सत्यशास्त्र हैं, इनका श्रद्धापूर्वक अध्ययन करना स्वाध्याय है। हम यदि इस स्वाध्याय शब्द का शब्दिक दृष्टि से विचार करे तो इसके मुख्यार्थ दो है। उत्तम अध्ययन एवं ऋषि प्रतिपादित सद्शास्त्रों का पूर्ण श्रद्धा व आस्था के साथ अध्ययन करना उत्तम ग्रंथों के अध्ययन से हमारे विचारों की पवित्रता दिव्यता व दृढ़ता आती है और विचारों की पवित्रता व दृढ़ता से ही जीवन में सात्विकता आती है। दूसरा स्वाध्याय का अर्थ है अपने आप का अध्ययन करना, अपने लक्ष्य निर्धारण करना एवं वहां पहुॅचने के लिए राह तय करना।

इस प्रकार साधक सजग होकर विवेकपूर्वक विचार करेगा तो वह बाहर के वैभव में न फसकर प्रणव ओंकार का जप तथा ऋषि प्रतिपादित आध्यात्म विद्या, परा विद्या के ग्रंथों का अध्ययन करता हुआ परमेश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर सफल हो सकता है।

5. **ईश्वर प्राणिधान :–**

उस गुरूओं के भी गुरू, परम गुरू परमात्मा में अपने समस्त कर्मो का अर्पण कर देना। भगवान को हम वही समर्पित कर सकते है जो शुभ है, दिव्य व पवित्र है। इसलिए साधक पूर्ण श्रद्धा भक्ति व सर्वात्मना प्रयंत्र से वही कार्य करेगा, जिसे वह भगवान को समर्पित कर सके अर्थात उसकी समस्त क्रियाओं का ध्येय ईश्वर–अर्पण होगा।

आसन

पदमासन, भद्रासन, या सुखासन आदि किसी भी आसन में स्थिरता और सुखपूर्वक बैठना आसन कहलाता है। साधक को जप, उपासना व ध्यान आदि करने के लिए किसी भी आसन में स्थिरता और सुखपूर्वक बैठने का लम्बा अभ्यास भी करना चाहिए। जो इन आसनों में नहीं बैठ सकते या रोगी हैं वे सोपाश्रय आसन अर्थात कुर्सी अथवा दीवार आदि का भी आश्रय लेकर प्राणायाम–ध्यान आदि का अभ्यास कर सकते है। जप व ध्यानदि उपासना के लिए आसन का अभ्यास अतिआवश्यक है। किसी ध्यानात्मक आसन के करते

समय मेरूदण्ड सदा सीधा होना चाहिए। भूमि समतल हो बिछाने के लिए गद्दीदार वस्त्र कुशा या कम्बल आदि ऐसा बिछावन होना चाहिए जो विद्युत का कुचालक तथा आरामदायक हो। उपासना के लिए एकांत स्थान, शुद्ध वायु मक्खी–मच्छरादि रहित वातावरण उपयुक्त है।

हठयोग में 84 प्रकार के आसन बताये गये है। ध्यानात्मक आसनों के अतिरिक्त हठयोग में दूसरे ऐसे आसन वर्णित है जिनका सम्बंध शारीरिक व मानसिक आरोग्य से है। इन आसनों को करने से शरीर के प्रत्येक अंग–प्रत्यंग को पूरी क्रियाशील मिलती है। एवं वे सक्रिय स्वस्थ और लचीले बन सकते है।

प्राणायाम :–

आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास–प्रश्वास की गति को यथाशक्ति नियन्त्रित करना प्राणायाम कहलाता है योगदर्शन के अनुसार प्राणायाम के चार प्रकार है।

1. ब्राम्हावृत्ति, 2. आभ्यन्तरवृति, 3. स्तम्भवृत्ति 4. बाह्याभ्यन्तर

बाम्हावृत्ति प्राणायाम :–

विधि :–

1. सिद्धासन वा पद्मासन में विधिपूर्वक बैठकर श्वास को एक ही बार में यथाशक्ति बाहर निकाल
   दीजिए।
2. बाहर निकालकर मूल बन्ध, उड्डीयान बंध व जालन्धर बंध लगाकर श्वास को यथाशक्ति बाहर ही
   रोकर रखें।
3. जब श्वास लेने की इच्छा हो तो बंधों को हटाते हुए धीरे धीरे श्वास लीजिए।
4. भीतर लेकर उसे बिना रोके ही पुनः पूर्ववत श्वसन क्रिया कीजिए। इस प्रकार इसे 3 से लेकर 21
   बार तक कर सकते है।

लाभ :–

यह हानिरहित प्राणायाम है। इससे मन की चंचलता दूर होती है जठराग्नि प्रदीप्त होती है। उदर रोगों में लाभप्रद है। बुद्धि सूक्ष्म व तीव्र होती है। शरीर का शोधक है। वीर्य की उर्ध्वगति करके स्वपन दोष शीध्रपतन आदि धातु विकारों की निवृत्ति करता है।

आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम :–

1. विधी :

1. ध्यानात्मक आसन में बैठकर श्वास को बाहर निकालकर पुनः जितना भर सकते हैं, अंदर भर लीजिए। छाती ऊपर उभरी हुई तथा पेट का नीचे वाला हिस्सा भीतर सिकुड़ा हुआ होगा। श्वास अंदर भर कर जालंधर बंध व मूलबंध ा लगाइए।

2. यथाशक्ति श्वास को अंदर रोकर रखिए। जब छोड़ने की इच्छा हो तब जालंधर बंध हटाकर धीरे–धीरे श्वास को बाहर निकाल दीजिए।

लाभ :–

फेफड़ा सम्बंधी सभी विकारों की निवृत्ति करता है। दमा के रोगियों के लिए अत्यंत लाभकारी है। दमा के रोगियों के लिये अत्यंत लाभकारी है। शरीर मं शक्ति क्रांति व ओज की वृद्धि करता है।

3. स्तम्भवृत्ति :–

इसमें श्वास को जहां का तहां रोकना पड़ता है। यथाशक्ति रोककर बाहर निकाल दीजिए। पुनः सामान्य होने पर जहां का तहां रोकिए। इसमें तीनों बंध ा लगाये जा सकते है।

4. बाह्ययाभ्यन्तर विषयाक्षेपी :–

विधि :–

जब श्वास भीतर से बाहर आवे, तब बाहर ही कुछ–कुछ रोकते रहे और जब बाहर से भीतर जावे तब उसको भीतर ही थोड़ा–थोड़ा रोकता रहे अर्थात जब प्राणवायु भीतर से ले और जब वह अपानवायु बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राणवायु से धक्का देकर अपानवायु की गति को भी रोकता जाय इस प्रकार एक दुसरे के विरूद्ध किया करें तो दोनों प्राणों की गति रूककर तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि बहुत कठीन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे शरीर में वीर्यवृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल पराक्रम और जितेन्द्रियता होती है। फिर वह मनुष्य सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर सकता है। चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर हो सकता है। स्त्रियाँ भी इसी प्रकार योगाभ्यास करें।

ऊपर से प्राण और नीचे से अपान और दोनो का युद्ध नासिका में कराओं अर्थात देश में ठहरने और भीतर से बाहर जाने के स्वभाव वाले प्राणवायु को उपर की ओर चढ़ाकर ब्रम्हाण्ड से होकर भूमध्य में लाकर त्रिकुटि के तले

स्थापित करो, और नाभि के नीचे ठहरने और बाहर से लाकर नासिका के छिद्रो के भीतर लेकर स्थापित करों अब दोनों को धक्का देकर एक दूसरे के विरूद्ध क्रिया अब दोनों को धक्का करके लड़ाई कराओं अर्थात प्राण वश में हो जाते है। इस प्राणायाम को करते समय मन इन्द्रियादि को त्रिकुटि में ध्यान द्वारा स्थिर करो।

ये प्राणायाम दर्शन शास्त्र में महर्षि पतंजलि द्वारा प्रोक्त है। शारीरिक एवं आध्यत्मिक स्वास्थ्य हेतु हठयोग ग्रंथ में इन्हीं प्राणायामों के अंतर्गत जो आभ्यान्तर कुम्भक हैं, उसके आठ भेद है।

प्रत्याहार :–

इन्द्रियों के अपने अपने विषय रूप रसादि का सन्निकर्ष न होने पर चित्तवृत्ति के अनुरूप ही इन्द्रियां हो जाती है इसलिए जब साधक विवेक वैराग्य आदि से अपने मन के ऊपर नियंत्रण कर लेता है, तब इन्द्रियों को जीतना आसन हो जाता है, क्योकि मन ही इन्द्रियों को चलानेवाला है।यह मनोजय अथवा विषयों से विमुख होकर मन तथा इन्द्रियों को अंतर्मुखी करना ही प्रत्याहार है। इस प्रत्याहार का फल बताते हुए महर्षि पतजंलि कहते है।

प्रत्याहार के द्वारा साधक का इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। शब्द स्पर्श रूप रस व गन्धादि की आसक्ति व्यक्ति को आत्मकल्याण के रास्ते से दूर हटाती है। एक–एक इन्द्रिय की आसक्ति मन को विचलित कर देती है। इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति रखनेवाले व्यक्ति की प्रीति, भोगों में होती है। फिर साधक को भगवान में प्रीति, परम रस व परम सुख का अनुभव होने लगता है और सारा संसार दुखमय प्रतीत होता है।

कर्माशय (संचित कर्मो का समूह) का विपाक की जन्म आयु और भोग होता है। ये जन्म आयु तथा भोग पुण्य कर्मो के कारण सुखमय तथा अपुण्य कर्मो के कारण दुःखमय होते हैं परन्तु योगी के लिए लौकिक विषयों का सुख भी दुःखमय ही होता है। इसका कारण यह है कि यह शब्द स्पर्श रूप रस आदि वासनारूप विषय–सुख व्यक्ति के परिणाम होते है। क्योकि ये सुख प्राणियों को पीड़ा दिये बिना नही भोगे जा सकते तथा इन सुखों में भी सूक्ष्म परिणाम संताप व संस्कार रूप से जो दुख मिश्रित है उसे सामान्यजनक अनुभव नहीं कर पाते। किन्तु योगी उनके परिणामों को जान लेता है। अतः उसके लिये लोगों को सुख प्रतीत होने वाला लौकिक सुख भी दुखमय ही है।

इसलिए साधक दुख की आंतरिक निवृत्ति के लिए ईश्वर प्राप्ति हेतु

पूर्ण पुरूषार्थ करता है।

यह यम से लेकर प्रत्याहार पर्यन्त बहिरंग योग है। इसके बाद धारणा, ध्यान तथा समाधि रूप अष्टांग योग का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

धारणा :–

नाभिचक्र हृदयपुण्डरीक, मूर्धाज्योति भ्रूमध्य, ब्रम्ह नासिकाग्र, जिव्हाग्र इत्यादि शारीरिक प्रदेशों में से किसी एक स्थान पर मन का निग्रह या एकाग्र होना धारणा कहलाता है। प्रत्याहार द्वारा जब इन्द्रियां मन अंतर्मुख होने लगे तो उनको किसी स्थान विशेष से हटाकर सूक्ष्म लक्ष्य आत्मापरमात्मा आदि पर केन्द्रित करने को धारणा कहते है। धारणा ध्यान की नीव है। ज्यों ज्यों धारणा का अभ्यास परिपक्व होगा ध्यान भी साथ साथ होने लगेगा।

ध्यान :–

उस धारणा किए हुए अर्थात नाभिचक्र, भ्रूमध्य या हृदय आदि में ध्येय रूप परमेश्वर में एकाग्रता ध्यान है। जैसे नदी जब समुद्र में प्रवेश करती है तब वह समुद्र के साथ एकाकार हो जाती है। वैसे ही ध्यान के समय सच्चिदानंद परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य विषय का स्मरण नहीं करना, अपितु उसी अंतर्यामी ब्रम्हा के आनंदमय ज्योतिर्मय व शांतिमय स्वरूप में मग्न हो जाना ध्यान है।

ध्यान हमारे जीवन के साथ प्रतिफल जुड़ा हुआ है। भारतीय संस्कृति में तो ध्यान प्रत्येक क्रिया का पूरक होता था। इसीलिए आज भी हमें अपने घर व परिवार के बड़े व्यक्ति किसी कार्य को विधिवत् सम्पन्न करने हेतु जब कहते है तो सर्वत्र यही वाक्य होता है भाई ध्यान से पढ़ना ध्यान से चलना, प्रत्येक कार्य को ध्यान से करना। आज हम ध्यान शब्द का प्रयोग तो करते है। परन्तु यह ध्यान क्या है, उस ओर किसी का ध्यान नही जाता है। लेकिन जीवन के प्रत्येक कार्य से साथ जुड़े इस ध्यान जीवन का अपरिहार अंग है ध्यान के बिना जीवन अधूरा है। ध्यान से सदा आनंदमय व शांतिमय जीवन जी सकते है। यद्यपि ध्यान अपने आप में एक बहुत बड़ी यौगिक प्रक्रिया है फिर भी ध्यान की कुछ विधिओं पर हम संक्षेप में प्रकाश उालेंगे, जिससे साधकों को कुछ दिशा–निर्देश मिल सके।

ध्यान के नियम :–

1. ध्यान करने से पहले प्राणायाम अवश्य करें क्योकि प्राणायाम के द्वारा मन पूर्ण शांत व एकाग्र हो सकता है। शांत मन के द्वारा ही, धारणा व ध

यान हो सकता है।

2. कपालभाति और अनुलोम विलोम प्राणायाम विधिपूर्वक करने से मन निविषय हो जाता है। अतः ध्यान स्वतः लगने लगता है। साधक जब कम से कम 3 मिनट कपालभाति और 5 से 10 मिनट अनुलोम विलोम प्राणायाम करता है। तो उसके मूलाधार चक्र में सन्निहित ब्रम्हा की दिव्यशक्ति जागृत होकर उर्ध्वगामी होने लगती है। जिससे समस्त चक्रों और नाड़ियों का शोधन हो जाता है। आज्ञाचक्र में ओकार स्वरूप स्थिर हो जाता है एव मन एकाग्र हो जाता है।

3. ध्यान करते समय ध्यान को ही सर्वोपरि महत्व दें ध्यान के समय किसी भी अन्य विचार को चाहेप पवित्र हो रोकना चाहिए। कुछ योगाचार्य कहते है कि अगर ध्यान करते समय कोइ विचार आता है। तो आने दें और इसे इन्होंने भावातीत ध्यान कहा है।

4. साधक को सदा विवेक वैराग्य के भाव में रहना चाहिए। स्वयं को द्रष्टा साक्षी में अवस्थित रखकर अनासक्त भाव से समस्त शुभकार्यो को भगवान की सेवा मानकर करना चाहिए। कर्तव्य का अहंकार व फल की अपेक्षा रहित कर्म भगवान का क्रियात्मक ध्यान है।

5. बाह्रय सुखप्राप्ति का विचार व सुख के समस्त साधन सब दुख रूप है। संसार में जब तक सुख बुद्धि बनी रहेगी तब तक भगवत् समर्पण ईश्वर प्रणिध ाान नहीं हो सकेगा तथा बिना ईश्वर प्राणिधान के ध्यान व समाधि तक पहुंचना असंभव है।

ध्यान के लिए अर्थपूर्वक ओंकार जप का अवलम्बन सर्वोत्तम है। भगवान ने भ्रुवों आंख नाक, ओठ, कान, हृदय व छाती आदि समस्त अंगों की आकृति ओंकारमयी बनाई है। यहपिण्ड देह तथा समस्त ब्रम्हाण्ड ओंकारमय हैं इस प्रकार साधक ओंकार का जप करता हुआ सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सच्चिदाननंद ब्रम्हा परमेश्वर को ही सर्वत्र अनुभव करता हुआ उसके दिव्यस्वरूप में समाहित होने लगता है। वेदों के सबसे महान मंत्र गायत्री का भी अर्थपूर्वक जव व ध यान किया जा सकता है।

6. श्वास प्रश्वास पर मन को एकाग्र करके प्राण के साथ उद्गीथ की उपासना की जाती है। सभी इन्द्रियां सदोष हैं क्योंकि आंखे शुभ अशुभ दोनों प्रकार से देखती है। कान भद्र अभद्र सुनते हैं घ्राव गंध दुर्गन्ध दोनों को ही सूंघते है। वाणी झूठ सत्य बोलती है। रसना भक्ष्य अभक्ष्य दोनों ही प्रकार का भक्षण

करती है। मन में भी कुविचार व सुविचार आदि रूप में पूर्ण निर्दोषता नही है। प्राण पूर्ण निर्दोष व निर्विकार है। अतः निर्विकार व निदोष ब्रम्हा के साक्षात्कार के लिए हमें निर्दोष प्राण का आश्रम लेकर प्राण के साथ उद्‌गीथ उपासना करनी चाहिए।

7. इस प्रकार प्रत्येक मुमुक्ष को प्रतिदिन कम से कम एक घंटा जप, ध्यान व उपासना अवश्य करनी चाहिए।जिससे जीवन सन्तुलित रहता है।

समाधि :–

ध्यान ही जब केवल ईश्वर के स्वरूप या स्वभाव को प्रकाशित करने वाला अपने रूपारूप से शून्य जैसा होता है तब उसे समाधि कहते है।

आनन्दमय, ज्योतिर्मय व शांतिमय परमेश्वर का ध्यान करता हुआ साधक ओकार ब्रम्ह परमेश्वर में इतना तल्लीन तन्मय सा हो जाता है कि वह स्वयं को भी भूल सा जाता है, मात्र भगवान के दिव्य आनंद को अनुभव होने लगता है यही स्वरूप शून्यता है। समाधि में केवल परमेश्वर के आनन्दमय शांतिमय ज्यातिर्मय स्वरूप व दिव्य ज्ञान आलोक में मग्न आत्मा निमग्र हो जाता हैं जीवात्मा आत्मा परमेश्वर के दिव्यज्ञान आलोक में आत्मा के प्रकाशमय होकर अपने शरीर आदि को भूल कर परमात्मा में लीन होना समाधि है।

योगासनों से रोग चिकित्सा :–

1. कब्ज :– प्रयोग शलभासन, धनुरासन, पश्चिमोत्तासन, जानुशिरासन, मयूरासन, चक्रासन ताड़ासन भ्रुजासन मत्यस्यासन, अर्थ मत्स्येन्द्रासन उष्टांसन कर्ण पीड़ानासन सुप्तवज्रासन, उत्तानपादासन हलासन पादहस्तासन,भूमिमपादमस्तकासन अंत में सर्वाडसन और शीर्षासन करने चाहिए।

2. **पाचन के लिए :–** पश्चिमोत्तासन, भुजंगासन, मयूरासन, शलाभासन, ताड़ासन गर्भासन, त्रिकोणासन अर्धमत्स्येन्द्रासन।

3. गैस के रोग :– जानुशिरासन, चक्रासन, धनुरासन पवनमुत्तासन।

4. **पेट दर्द :–** शीर्षासन, मयूरासन, मत्स्येन्द्रासन।

5. आँखों सम्बंधी :– सर्वागासन, ऊर्ध्वसर्वागासन, वृक्षासन, ऊर्ध्वपद्‌मासन पश्चिमोत्तासन जानुशिरासन, मयुरासन सर्पासन चक्रासन मत्स्येन्द्रासन, गर्भासन, उष्ट्रासन अंत में करना चाहिए।

6. **आमवात :–** मयूरासन, पश्चिमोत्तानासन चक्रासन मत्स्येन्द्रासन, शीर्षासन और ऊर्ध्वगासन बाद में करने चाहिए।

7. **पेट में कीड़े** :– मत्स्येन्द्रासन, वृश्चिकासन, पश्चिमोत्तानासन मयूरासन नौकासन मेरूदण्डासन सर्वागांशन शीर्षासन जानुशिरासन चक्रासन।

8. **अति अम्लता** :– शलभासन के साथ नाड़ी शोधन शीतली शीताकारी और प्राणायाम से लाभ होता है।

9. **पेट की नाड़ियों और मांसपेषियों की निर्बलता में** :– पश्चिमोत्तासन हलासन गरूड़ासन, पद्मासन मकरासन शशकासन त्रिकोणासन उत्थितमेरूदण्डासन उष्ट्रासन।

10 **पतले दस्त** :– शीर्षासन, सर्वागासन, हलासन, के साथ मूलबंध आग्निसार क्रिया प्रक्षालन से लाभ होता है।

11. **मेदोरोग** :– तानासन जानुशिरासन, मयूरासन, सर्वागासन, ऊर्ध्वसर्वागांसन चक्रासन, उत्तानपादासन, मत्स्येन्द्रासन, गर्भासन, वृश्चिकासन और बद्ध पद्मासन के साथ सूर्य भेदम व्यायाम करने से लाभ होता है।

12. **यकृत सम्बंधी रोग** :– शीर्षासन पश्चिमोतानासन, शलभासन, सर्वागासन हलासन धनुरासन मयूरासन, भुजासन गर्भासन बद्धपद्मासन, शंशाकासन, हस्तपादासन उश्ट्रासन के साथ सूर्य नमस्कार करने से विशेष लाभ होता है।

13. **तापतिल्ली** :– सर्वागासन शीर्षासन, पश्चिमोत्तासन भुंजगासन, जानुशिरासन चक्रासन मत्स्येन्द्रासन और वृश्चिकासन के साथ सूर्य भेदन व्यायाम से रोग निवृत्ति होती है।

14 **खट्टी डकार** :– सर्वागासन, शीर्षासन, पश्चिमोत्तासन भुंजगासन जानुशिरासन चक्रासन ऊर्ध्वसर्वागासन बद्धपद्मासन, कंठपीड़नासन। इस रोग में ऊर्ध्वसर्वासन और शीर्षासन विशेष प्रकार से लाभदायक है। शीघ्र लाभ प्राप्त करने के लिए मत्स्यासन मयूरासन, ऊर्ध्वपद्मासन और गर्भासन का अभ्यास करना चाहिए।

15. **बवासीर** :– सर्वागासन, पश्चिमोत्तानासन, जानुशिरासन, बज्रासन भद्रासन, मत्स्यासन, सिद्धासन गोमुखासन के साथ मूलबंध अश्विनी मुद्रा और महामुद्रा करने से लाभ होता है।

16. **पाण्डुरोग** :– शीर्षासन सर्वागासन, ऊर्ध्व–सर्वागासन, मयूरासन, जानुशिरासन, पश्चिमोत्तानासन, चक्रासन मत्स्यासन, सर्पासन, बद्ध पद्मासन वृश्चिकासन के साथ भेदन व्यायाम करना चाहिए।

17. **शक्ति विकास** :– मयूरासन, वृश्चिकासन, ऊर्ध्वपद्मासन उत्थितपद्मासन दोलासन चक्रासन के साथ सूर्य भेदन व्यायाम करने से अशक्तता की निवृत्ति

होती है।

18. **सुस्ती** :– लगभग सभी आसन सुस्ती को दूर करने वाले है। सूर्य भेदन व्यायाम विशेष रूप से लाभदायक है।

19 **थकावट** :– शवासन, दण्डासन, मृतयासन और पतंगासन।

20. **स्नायु निर्बलता** :– सर्वागासन, शीर्षासन, विपरीतकर्णी हलासन, चक्रासन धनुरासन अर्द्धमत्स्येन्द्रासन शलभासन पश्चिमोत्तानासन, वज्रासन, गर्भासन, शशांकासन के साथ नाड़ी शोधन प्राणायाम करने से विशेष लाभ होता है।

21. **खून की कमी** :– शीर्षासन, सर्वागासन, हलासन, शलभासन, पश्चिमोत्तानासन, भुजांगासन, मत्स्यासन,सूर्य नमस्कारासन और नाड़ी शोधन प्राणायाम व शीतली प्राणायाम।

22. **झुरियाँ** :– शीर्षासन पिवरीतकर्णी और योग्य मुद्रा।

24. **तीव्र रक्तचाप** :– वज्रासन, पवनमुक्तासन, शशांकासन के साथ शीतली शीतकारी और भ्रामरी प्राणायाम।

25 **रक्तचाप की कमी** :– भूमिपादमस्तकासन, वक्रासन के साथ भस्त्रिका और नाड़ी शोधन प्राणायाम।

26 **दमा** :– शवासन, सर्वागासन शीर्षासन मत्स्यासन, शलभासन, सुप्तवज्रासन, भुजंगासन, उष्ट्रासन के साथ भस्त्रिका कपाल भाति और उज्जाई प्राणायाम।

27. **मधुमेह रोग** :– सूर्य नमस्कार, हलासन, सर्वागासन, जानुशिरासन, पश्चिमोत्तानासन, भुजासन, मत्स्यासन, अर्द्धमत्स्येन्द्रासन, वातायनासन, सुप्तवज्जासन, योगमुद्रा मूलबंध के साथ भस्त्रिका भ्रामरी नाड़ीशोधन शीतकारी और शीतली प्राणायाम।

28 **जुकाम** :– ऊर्ध्वसर्वागासन, शीर्षासन, सूर्यभेदन व्यायाम नेती और जल की नेती करने से लाभ होता है। स्वस्थ दशा मं करते रहने से सुरक्षा रहती है।

29 **कमर दर्द** :– मुखासन, पद्मासन, त्रिकोणासन, उल्कटासन, अर्द्धमत्स्येन्द्रासन, गोमुखासन, वज्रापात, नौकासन भुजांगासन चक्रांसन वृक्षासन मयूरासन, सूर्य नमस्कार, शशांकासन। सुप्तवज्रासन ऊर्ध्वागासन हलासन मत्स्यासन, उष्ट्रासन आदि।

30 **रीढ़ की हड्डी के लिए** :– हलासन, धनुरासन, चक्रासन पश्चिमोत्तानासन,

त्रिकोणासन, भुजंगासन शीर्षासन शीर्षापादासन पादहस्तासन, उष्ट्रासन अर्द्धमत्स्येन्द्रासन, शशंकासन वृश्चिकासन।

31 **खाँसी** :– ऊर्ध्वसर्वासन, शीर्षासन, पश्चिमोत्तासन मत्स्यासन, जानुशिरासन, सुप्तवज्रासन और कपाल भाति शीर्षासन करने वाले अभ्यासी इस रोग से सुरक्षित रहते है।

32 **घुटने का रोग** :– शीर्षासन के साथ तेल मालिश और आक के पत्तों के सेकने से लाभ होता देखा गया है।

33 **गठिया** :– हलासन, धनुरासन, पश्चिमोत्तानास, त्रिकोणासन, जानुशिरासन, पवन मुक्तासन, अर्द्धमत्स्येन्द्रासन पर्वतासन गोमुखासन।

34 **साईटिका** :– वज्रासन, गरूड़ासन, गोमुखासन, हनुमानासन।

35 **वायु विकृति** :– पश्चिमोत्तानासन, पवनमुक्तासन।

36 **मोटापा** :– धनुरासन, पश्चिमोत्तानासन, सर्वागासन, त्रिकोणासन हलासन, शलभासन अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन पादहस्तासन।

37 **मानसिक तनाव** :– शवासन, वज्रासन, आनन्दमदिरासन, सर्वागासन, शीर्षासन, शलभासन गर्भासन, हलासन शशांकासन।

आसन विधि

1. ताड़ासन :– जिस प्रकार ताड़ का वृक्ष एक दम सीधा तना हुआ होता है, उसी स्थिति में अपने को साधने की क्रिया का नाम ताड़ासन है। कुछ लोग इस आसन को ताल बद्ध श्वास–प्रश्वास के साथ करते है। और इसे ताड़ासन न कहकर तालासन कहते है। ताड़ासन का नियमित रूप से जो नित्य अभ्यास करते हैं, वे भी लम्बे तगड़े और दीर्घ जीवी होते है। ताड़ासन ठिगनापन को दूर करता है। ताड़ासन वृक्ष सीने की परिधि और कमर को बढ़ाने वाला है। ताड़ासन इससे श्वास–पेशियों का विकास होता है। फुफ्फुसों में लचीलापन आता है। उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है। प्राणशक्ति को बढ़ाने मे भी सहायक है। इस आसन से थकाव और आलस्य चार पाँच मिनट में ही दूर हो जाते हैं, क्योकि इससे अंगों पर खिचाव पड़ता है और शिथिलन की स्थिति आते ही शुद्ध रक्त अंग–प्रत्यंग में तेजी से स्त्रावित होता है और सारी सुस्ती को मिटा देता है। यह पेट में चर्बी भी नहीं बढ़ने देता है। उदरांगो को अप्रत्यक्ष पुष्ट करता है।

विधि :–पैरों को सुविधानुसार खुले रखते हुए सीधे खड़े होइये। धीरे–धीरे गहरी सांस भरते हुए हाथों को ऊपर की ओर ले जाइये और तानिये पंजों पर

शरीर को रोकते

हुए हाथों को ऊपर की ओर रहनी चाहिए अब गुदा और शिश्न को पेट, की नस नाड़ियों को ऊपर की ओर खीचिए अपनी समस्त मानसिक शक्ति लगाकर अधिकाधिक खिचाव कीजिए गर्दन, पुष्ट वंश कमर, हाथ नितम्ब आदि सभी अवयव खूब तने हुए बिल्कुल एक सीध में रहने चाहिए। जरा भी ढील लोच या खम नहीं रहना चाहिए जितने समय तक आप इसी स्थिति में अड़िग खड़े रहिये। सही क्रम से यह आसन पाँच से पंद्रह मिनट तक करना चाहिए। इस आसन को चलते–फिरते दफ्तर में काम से थकने रेल यात्रा में बैठे–बैठे भी हाथा को ऊपर की ओर गुदा सकोच के साथ सांस रोककर तान कर पूर्ण या अर्द्ध ताड़ासन करके ह्रदय में उमंग और उत्साह की तरंगे लहरायी जा सकती हैं और सभी अवसाद सहज में मिटायें जा सकते है। ऊओर ले जाइये और तानिये पंजों पर शरीर को रोकते हुए हाथों को ऊपर की ओर अधिकाधिक तानिये। हथेलियां सामने की ओर रहनी चाहिए अब गुदा और शिश्न को पेट, की नस नाड़ियों को ऊपर की ओर खीचिए अपनी समस्त गर्दन, पुष्ट वंश कमर, हाथ नितम्ब आदि सभी अवयव खूब तने हुए बिल्कुल एक सीध में रहने चाहिए। जरा भी ढील लोच या खम नहीं रहना चाहिए जितने समय तक आप आसानी से सांस रोक सकते हैं, उतने समय तक आप इसी स्थिति में अडिग खड़े रहिये। फिर धीरे धीरे श्वास छोड़ते हुए पहली स्थिति में आ जाइये। सही क्रम से यह आसन पाँच से पंद्रह मिनट तक करना चाहिए। इस आसन को चलते–फिरते दफ्तर में काम से थकने रेल यात्रा में बैठे–बैठे ऊबने पर जब चाहें कर सकते हैं। लेटे–लेटे और बैठे–बैठे भी हाथों को ऊपर की ओर गुदा सकोच के साथ सांस रोककर तान कर पूर्ण या अर्द्ध ताड़ासन करके ह्रदय में उमंग और उत्साह की तरंगे लहरायी जा सकती हैं सभी अवसाद सहज में मिटाये जा सकते है।

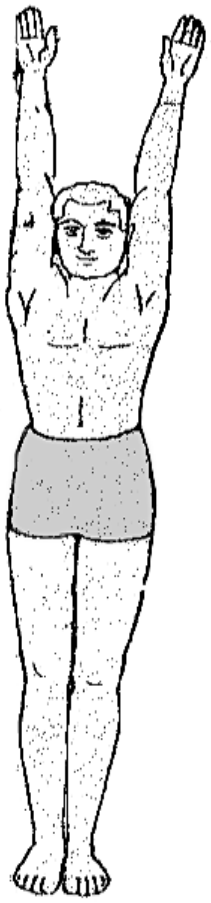

ताड़ासन

2. ऊर्ध्वोत्तानासन :–

इस आसन में पंजो के बल ऊपर की ओर अपने को अधिकाधिक तानकर खड़े होते है। इस दृष्टि से यह ताड़ासन से मिलता जुलता आसन है। पर चूँकि इसमें महाबंध–मूलबंध जालंधर बंध और अड्डियान बंध तीनों बंध, लगाये जाते हैं, अतः यह ताड़ासन की अपेक्षा अधिक लाभकारी है। इससे शरीर की लम्बाई ही नही बढ़ती पाचन सस्थान और विसर्जन संस्थान के अनेक उपसर्ग दूर होते है।

विधि :– सबसे पहले पैरों को मिलाकर सीधे खड़े हो जाइये। पैरों के पंजों पर अपने शरीर को ऊपर की ओर तानिये। हाथों को कोहनी स्थान पर मोड़कर सिर के ऊपर रख लीजिये। अब सांस को बाहर निकालिये ठोड़ी को कण्ड कूप से सटाइए, गुदा को संकोच कीजिये और पेट को पीठ की ओर अधिकाधिक ले जाइये। कुछ सेकेण्ड तक इसी स्थिति में रहिए फिर छोड़ते हुए पूर्ण स्थिति में आ जाइये।

काण्ड से कूप लगाने को जालंधर बंध पेट को पीठ से चिपकाने की क्रिया को उड्डियान बंध और गुदा को ऊपर की ओर खीचनें की क्रिया को मूल बंध कहते है। ये तीन क्रिया एक साथ निकाल कर करनी है। ध्यान इस बात का देना है। कि शरीर भली भांति तना रहे। ये तीनों बंध भी विधिवत् लग जावें। सांस अंदर लेते ही तीनों बंध खोल देने चाहिए। इस आसन को पाँच से दस बार तक प्रतिदिन किया जा सकता है।

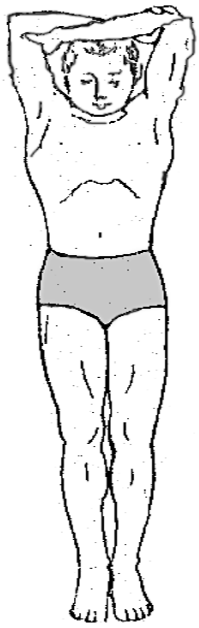

ऊर्ध्वोत्तानासन

3. कोणासन :–

कोण शब्द का अर्थ है। जिस प्रकार आसन में मनुष्य की आकृति कोने (या त्रिकोण) जैसी प्रतीत होता है, उसे कोंणासन की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। कोणासन से शरीर त्रिकोणात्मक छोड़ा जाता है। ताड़ासन से नस नाड़ियों में ऊर्ध्वोन्मुख तनाव होता है। कोणासन में यह खिंचाव पार्श्वगत रहता है। इस कारण इस आसन से कमर, गर्दन, पसलियों और फेफड़ो का सुंदर व्यायाम होता है। इन अंगो में रक्त संचरण बढ़ता है। वक्षस्थल चौड़ा होता है। यक्ष्मा, श्वास–कांस जैसे रोग नही हो पाते हे। इन रोगो के दूरी करण में भी

इस आसन के द्वारा कटि तथा मेरूदण्ड के दाहिने और बाम दोनों भागों का समुचित व्यायाम हो जाता है। ताड़ासन के समान यह व्यायाम भी लम्बाई को बढ़ाने वाला है। ठिगनेपन को दूर करने वाला है। सभी योगी ग्रंथ इसे ताड़ासन के बाद करने की प्रेरण ही देते हैं।

कोणासन जब रोचक प्राणायाम के साथ (श्वास निकालकर बाहर ही उसे रोक रखकर) किया जाता हैं, तो उससे गुहा के आंतरिक अवयवों और यकृत क्लोमादि ग्रंथियों पर बड़ा ही आरोग्य कर दबाव पड़ता है। फलतः पाचन दोष दूर होते है। उदर रोग मिटते हैं। इस आसन से अस्थि ग्रंथियां सुदृढ़ होती

कोणासन

है। स्नायु तथा मांसपेशियों का समुचित विकास होता है। कमर, पीठ आदि में दर्द होने पर इसको दिन में तीन चार बार थोड़ी थोड़ देर करने से अपूर्व लाभ देखा गया हैं। यह उमंग उत्साह को बढ़ाने वाला और सुस्ती व अवसाद को दूर करने वाला है।

दोनों पाँवो को फैलाकर सीधे खड़े हो जाइये। एक पाँव दूसरे पांव से लगभग

दो फुट की दूरी पर होना चाहिए शरीर को सीधा तानिये और दोनो हाथों की ऊपर की ओर ले जाइये। दोनों हथेलियां सामने की ओर रखिये और उन्हें जोर लगाकर अधिकाधिक ऊपर की ओर खींचिए। अब धीरे धीरे सांस छोड़ते हुए बांयी ओर झुकिए। बांया हाथ बांये घुटने के नीचे पिंडलियों पर स्थापित कीजिये और दाहिने हाथ का दाहिने कान से हटाये हुए ग्रीवा को बाम स्क्रन्धा (कन्धे) पर टिकाइये जिससे दाहिने हाथ की हथेली पृथ्वी के समान्तर हो जावे।

कुछ समय तक इस स्थिति में सांस बाहर ही रोके हुये अपने को साधिये। तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है–(क) दोनों टागें सीधी रहनी चाहिए।उनमें कहीं कोई झुकाव नहीं आना चाहिए। (ब) एड़िया पृथ्वी पर ही जमा रहें। शरीर आगे पीछे हिलने न पावे। (ग) हाथों और टांगों में अधिकाधिक तनाव लाने की चेष्टा सबल प्रयत्न रहे। इसके बाद धीर–धीरे सांस लेते हुए पहली स्थिति में आइये। दो सैकेण्ड तक खड़े खड़े सुस्ताइये। फिर शनैः शनैः सांस को छोड़ते हुए दाहिनी और झुकिए और दाहिने हाथ को दाहिने घुटने के नीचे पिंडली पर जमाइए। साथ ही बायें हाथ की हथेली पृथ्वी के समानान्तर हो जावे। तत्पश्चात पूर्वोक्त प्रकार से कुछ देर इसी स्थिति में आकर कुछ आराम कीजिये। तीसरी स्थिति साधते समय सांस छोड़ने में तीन सैकण्ड लगाने चाहिये। चौथी स्थिति छः सैकण्ड तक बिना सांस लिए रहना चाहिए तथा धीरे धीरे पहली स्थिति आते समय सांस लेने (भरने) में तीन सैकण्ड का समय लगाना चाहिये। सारांश यह है कि सांस छोड़ने और लेने में तीन सैकण्ड लगाए जायें और बाहर ही सांस रोके रहने का कार्य इससे दुगना अर्थात छः सेकण्डों के अनुपात में की जा सकती है।

अन्य व्यायामों के साथ इसे करने वाले साधारण गृहस्थ को यह आसन पूर्वोक्त क्रम से तीन से पाँच बार तक करना चाहिए। विशेष लाभ प्राप्त के लिये चौथी और सातवी स्थिति में दस–दस सेकेण्ड तक रूकना चाहिये।

5. अश्वत्थासन :–

अश्वत्था चिर यौवन का प्रतीक है। वैज्ञानिक शोधों से भी यह प्रमाणित होता है कि वह निशाकाल में प्राणवायु का निस्सरण करता है। इस तरह वह जीवनप्रद है। दीर्घ जीवन की प्राप्ति के लिये सुविज्ञ योगियों ने अश्वत्य आसन का आविष्कार किया है। इस आसन से तत्काल उमंग, उत्साह, स्फूर्ति और

ताजगी प्राप्त होती है। नित्य नियमित रूप से इस आसन का अभ्यास करने से दैनिक कार्यो में खूब मन लगता है। आलस्य सुस्ती और काहिली अंग गौरव और अंग मर्द दूर होता है। इससे चेहरे पर कान्ति और मन में प्रसन्नता का प्रादुभार्व होता है। कोटि उदर यक्ष गुहा जंघा पाद दण्ड और भुजदण्ड का आरोग्यकारी व्यायाम इस आसन से होने के कारण ये अंग बलिष्ठ होते है।

विधि :– सर्वप्रथम सीधे खड़े हो जाइये। दोनो पैर परस्पर मिले होने चाहिये। हथेलियाँ सामने की ओर जंघाओं पर अवस्थित कीजिये। सिर, ग्रीवा और मेरूदण्ड एक सीध में रखिये। दृष्टि सामने की ओर रहनी चाहिए। अब सांस लेते हुए बांये हाथ को कन्धे की सीध में जमीन के समान्तर फैलाइये, दाहिने पैर को पीछे की ओर ऋतु स्थिति में सीधा तानियें और दाहिने हाथ को दाहिने कर्ण से स्पर्श करते हुये जितना अधिक ऊपर की ओर ले जा सकें, ले जाइये पद्रंह सैकण्ड तक अपने को इस स्थिति में रखियें।

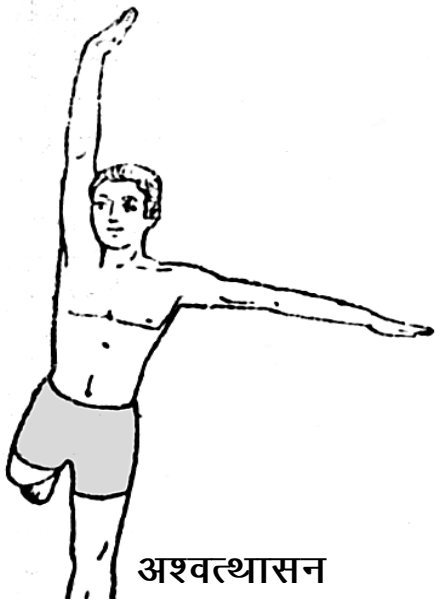

अश्वत्थासन

फिर सांस छोड़ते हुए पूर्वावस्था में आ जाइए दो सैकेण्ड विश्राम कीजिये। फिर सांस लेते हुये दाहिने हाथ को कन्धे की सीध में पृथ्वी के समानान्तर स्थापित कीजिए बांए पैर को पीछे की ओर जे जाइए। और उसे भी पृथ्वी के समानान्तर सीधा रखिये। साथ ही बांये कान से जमीन के समान्तर फैलाइये दाहिने पैर को पीछे की ओर ऋतु स्थिति में सीधा तानियें और दाहिने हाथ को दाहिने कर्ण से स्पर्श करते हुये जितना अधिक ऊपर की ओर ले जा सकें ले जाइये पन्द्रह सैकण्ड तक अपने को इस स्थिति में रखियें। फिर सांस छोड़ते हुए पूर्वावस्था में आ जाइए दो सैकण्ड विश्राम कीजिये। फिर सांस लेते हुये दाहिने हाथ की कंधे की सीध में पृथ्वी के समानान्तर सीधा रखिये। साथ ही बायें हाथ कान से सटायें हुए आकाश की ओर अधिकाधिक ऊपर तानिए। पन्द्रह सैकण्ड तक इसी स्थिति में दोनों भुजाओं और बाएं हाथ पैर को भावनापूर्ण मन में खूब

ताने रखिये। फिर सांस छोड़ते हुये पूर्वावस्था में लौट आइये। इसी क्रम से इस आसन को दस पन्द्रह बार प्रतिदिन करना चाहिये। इस आसन की सफलता दो बातों पर है हाथ पैर झुकने मुड़ने न पावें। समान्तर या सीध में संतुलित रहें और दूसरे प्रकार (तानने की क्रिया) अधिकाधिक हो जितना अधिक तनाव रखेंगे, स्वास्थावस्था में आने पर उतनी ही अधिक तीव्र गति से नसनाड़ियों में शुद्ध रक्त का प्रवाहित होगा। जितना अधिक रक्त का प्रभावन (अभिसरण) होगा, उतना ही बल, शक्ति निरोगता आयेगी। अतएव खूब बल लगाये हुये हाथों और पैरों को तानना चाहिये। इस आसन के 30 बार करना चाहिये।

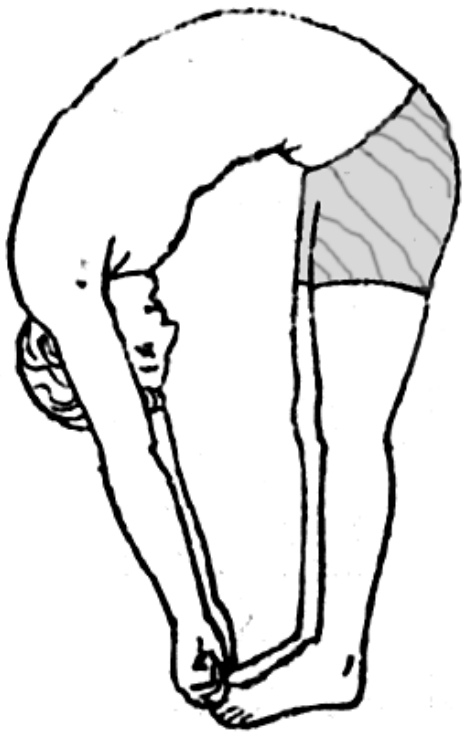

पादहस्तासन

6. **पाद–हस्तासन** :– इस आसन में हाथों से पांवों को छुआ या पकड़ा जाता है। इससे हाथ और पाँव का समवेत व्यायाम होता है। इसी से इसे पाद–हस्तासन कहते हैं। वस्तुतः पाद–हस्तासन से पांव, पिण्डलियों, घुटनों जंघाओं कमर पेट, ग्रीवा, और सिर का अच्छा व्यायाम होता है। इन–इन अंगों में खिचाव होकर जब शिथिलता आती है। तो शुद्ध रक्त का विशेष प्रवाह तीव्र गति से वहाँ प्रवाहित होता है जिससे इनकी व्याधियाँ दूर होती हैं। नित्य नियम पूर्वक इस आसन का अभ्यास करने वाले इन–इन अंगों को कोई व्याधि प्रायः होती है। इन आसन के साधने से उदर कटि नितम्ब तो स्वस्थ और पुष्ट होते ही हैं, मस्तिष्क को विशेष रक्त, पोषण मिलने से स्नायविक तथा मानसिक विकार भी नही होने पाते। पेट की चर्बी दूर होती है, उदर वात का निवारण होता है। इसके साथ जिगर, तिल्ली और गुर्दो का भी पोषण और शक्ति प्राप्त होती है।

फलतः ये ग्रन्थियां भी रोग मुक्त रहती हैं।

विधि :– दोनो पाँवों को सटाकर एकदम सीधे खड़े हो जाइये। दोनों भुज–दण्डों से कानों को दबाते हुए हाथों को जितना ऊपर उठा सकते हैं। उतना ऊपर की ओर उठाइये। हथेलियाँ सामने की ओर ही रखनी चाहिए। अब दोनों हाथों के मध्य में सिर को रखते हुए कमर से ऊपर तक का भाग धीरे–धीरे श्वांस छोड़ते हुए जमीन की ओर झुकाइये। दाहिने और बांयें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को पकड़ियों। बाहर सांस रोकने की अपनी क्षमता के अनुसार दस से पन्द्रह बीस सैकेण्ड तक इसी स्थिति में अपने को सीधे रखिये। तत्पश्चात धीरे–धीरे सांस लेते हुए पूर्वावस्था में आईये। स्वस्थ अवस्था में खड़े होकर पाँच–सात सैकण्ड आराम करके पुनः इसी क्रम में यथेष्ट संख्या में इस आसन को कीजिये। तदुपरान्त चित्त लेटकर शवासन में एक दो मिनट तक आराम करके अन्य आसन करना चाहिए।

सामान्य अवस्था में यह आसन प्रतिदिन तीन बार करना चाहिए। रोग–विशेष के निवारण के लिए रोगी के बलानुसार दस बार तक इसे किया जा सकता है। एक मिनट तक इस इस आसन में स्थिर रहने से शीघ्र लाभ होता है। इस आसन को करते समय इस बात की विशेष रूप से सावधानी रखनी चाहिए, कि पांव सीधे रहें घुटनें मुड़ने न पावें। एड़ी से कमर तक भाग बिल्कुल सीधा रहना चाहिए।

अर्धपद्मासन

7. सुखासन :– बैठने के आसनों में सबसे सरल सर्वाधिक सुविधाजनक सुखासन हीं है। योग दर्क्षन में इसकी बड़ी महिमा गायी गई है– स्थिर

सुखासनम्। सुखासन स्थिर से लिए सर्वोत्तम है। यह आसन सुख साध्य है। घंटो तक चलने वाले भजन, ध्यान या समाधि में यह आसन लगाकर सुख पूर्वक बैठा जा सकता है। इससे देह, प्राण, मन और इन्द्रियों की अपेक्षाकृत न्यूनतम थकान ही होती है।

यह आसन कमर तथा उससे निचले भाग की नस नाड़ियों को दृढ़ और लचकीला बनाता है मेरू दंड को स्वस्थ और सबल बनाता है। क्योंकि उसके सीधे रहने से सुषुम्ना में प्राण की गति ठीक रहती है। और ध्यानभ्यास से एकाग्रता आती है। मन उचाट नहीं खाता है। विधि निम्न प्रकार से है–

फर्श पर बिछोना बिछाकर इस प्रकार बैठिये कि सीधे टांग की एंड़ी बाँयी जांच के नीचे रहे। दोनों हाथों की घुटनों का स्पर्श करें। श्वांस–प्रश्वांस स्वाभाविक रीति से लेते रहिये। ध्यान रहे मेरू दण्ड, ग्रीवा और सिर एक सीध में रहे। दृष्टि नासाग्र पर रहे शरीर को अधिक तानना नहीं चाहिए जब थकान सी प्रतीत हो, तो टाँगों को बदल सकते है।

पूजन, ध्यान और भोजनादि में उपयुक्त इस आसन का अभ्यास पांच मिनट से बढ़ाकर तीन घण्टे तक किया जा सकता है।

8. अर्ध पद्मासन –: पदमासन में दाहिने पैर बांयी जांघ पर बांए पैर को दाहिने जांघ पर बढ़ाकर रखते है। किंतु जब एक ही पैर जांघ पर रखा जाता है। उसे अर्ध पद्मासन कहते है। मोटे व्यक्ति को सरल और सुख साध्यप्रतीत होता है वे ध्यान–चिंतन अर्धपद्मासन पर कर सकते हैं। जब शरीर में श्वांस पेशियों और नस नाड़ियों में लचीलापन आ जावे, तब पूर्व पद्मासन करने लगें, क्योकि अर्धपद्मासन का लाभ अर्ध ही समझना चाहिए।

विधि :– बाँया पैर दाहिने जाँघ पर और दाहिने पैर को बांयी जंघाके नीचे रखकर बैठ जाइए। रीड़ गर्दन सिर का सीध से रखिए। हाथों को सीधा तानकर घुटनों पर अवस्थित कीजिए। जब थकान आने लगे तब दाहिना पैर बांयी जांघ पर रखकर आसन लगावें।

9. पद्मासन :– पद्मका अर्थ 'कमल है और आसन का अर्थ बैठ की। इस प्रकार पद्मासन बैठने का वह ढ़ग है जिसमें अरूमूल पर जमाये हुए पैर पद्म के पत्र का और एड़ियों पर तले–ऊपर रखे हुये हाथ खिले पद्म सदृश लगते हैं। इस तरह इस आसन का रूप बहुत कुछ पद्म पुष्प जैसा होता है। इसी कारण योगियों ने इसका नाम पद्मासन रखा है यह आसन निम्नांगों को सबल बनाता है। कमर और इससे नीचे के अवयवों को नस नाड़ियों को दृढ़

औश्र लचीला बनाता है। इस आसन में मेरू दण्ड को सीधा रखा जाता है। सुषुम्ना में प्राण की गति ठीक रहती है। इसी कारण इससे बुद्धि तीव्र होती है। विचारशक्ति बढ़ती हैं। पद्मासन ध्यान का आसन है। इसके अनेक आध्यात्मिक लाभ है। साधन भजन के लिए अद्वितीय है ब्रह्मचर्य रखने में इससे अपूर्व सहायता मिलती है।

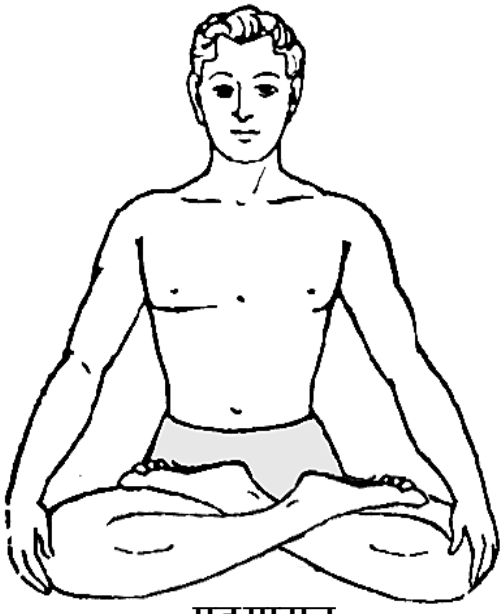

पद्मासन

व्यापारिक लाभ के लिए इसके साथ जालंधर बंध और मूल बंध ा लगाया जाता है। ऐसा करने से पाचन–विकार दूर होते है। भूख खुलती है। बात रोग और वस्ति रोग मिटते हैं शरीर की धातुयें संतुलित अवस्था में रहती हैं। शक्ति बढ़ती है। स्त्री पुरूष बालक वृद्ध सभी इस आसन का प्रयोग कर सकते हैं।

विधि :– दोनों टांगे सामने की ओर फैलाकर बैठ जाइए। अब दाहिना पैर बांयी जांघ पर और बांया पैर दाहिनी जांघ पर रखिए। दोनो पैर दोनों जंघाओं पर ठीक तरह से अवस्थित होने चाहिए। ध्यान रहे नाभि की सीध में दोनों एड़िया जांघ मूल से अच्छी तरह सट जानी चाहिए। पादतल ऊपर की ओर रहने चाहिए। एडियां परस्पर मिलाई जा सकें तो कार भी अच्छा होगा। इसके बाद दाहिने हाथ के पृष्ठभाग को वाम हथेली पर रखते हुए एड़ियों पर स्थापित कीजिए। हथेलियों को घुटनों पर भी रख सकते हैं। जांघे और घुटने जमीन पर टिकायें रखिए रख सकते हैं। जांघें और घुटने जमीन पर टिकायें रखिए उनमें शिथिलता नहीं आनी चाहिए। मेरू दण्ड ग्रीवा, सिर और और कटिभाग सीधा रहना चाहिए। दृष्टि को भौहों के मध्य भाग पर स्थिर कीजिए या नासाग्र पर स्थापित कीजिए, चाहे तो आंखें बंद करके दृष्टि को अन्तराभिमुख रखिए अथवा सामने रखे देव–चित्र त्राटक बिन्दु पर स्थिर कीजिए। पद्मासन को एक से दस मिनट तक अन्य आसनों के साथ लगाना चाहिए। पद्मासन से

अधिक लाभ उठाने के लिए कंठ कूप में ठोड़ी को सटाना चाहिए। इस क्रिया को जालंधर बंध कहते है। ऐसा करने से थायराइड और पैरा थायराइड ग्रन्थियां सचेत होती है और मस्तिष्क सबल होता है। उदर गुहा और वस्ति प्रदेश को चैतन्य करने के लिए जितनी देर पद्मासन पर बैठें, मूलबंध लगाए रहें। गुदद्वार को अंदर की ओर खींचिए। यही मूल बंध है। कब्ज मिटता है पाचन क्रिया तेज हो जाती है।

समीर विसर्जनासन

समीर विसर्जनासन :– इस आसन में श्वांस–वायु को बाहर छोड़कर डायाफाम और उदर की पेशियों के अवरोधों को दूर करने की क्रिया की जाती है। समीर (वायु) का विसर्जन होने से इस समीर विसर्जनासन या पवन मुक्तासन भी कहते हैं। इस आसन से डायाफाम और उदर–पेशियों पर दबाब पड़ता है। उदराग पुष्ट होते है। उदावर्त गैस और कब्ज की बीमारी का नाश होता हैं। जिगर, तिल्ली गुर्दे आदि अंतराव सब स्वस्थ होते हैं। पहले घुटनों के बल स्वच्छ भूमि या दरी पर बैठ जाइये। सिर और रीढ़ को सीधा रखिए। दोनो हाथों से घुटनों को सीने से खूब चिपकाइए। पांवों के पंजे परस्पर मिले रहें और दोनों ऐड़िया नितम्ब प्रदेश में चूतड़ों से सटी रहे।

इसके बाद मन ही मन 1 से 10 तक गिनती गिनते हुए धीर–धीरे श्वांस वायु को बाहर निकालिए। ध्यान रहे अधिक से अधिक हवा निकालने का प्रयास करें। ज्यों–ज्यों हवा निकलती जाय, पेट और पेडू अंदर की ओर सिकोड़ते

जावें, त्यों–त्यों आपके घुटनों और एड़ियों का दबाब अंदर की ओर बढ़ता रहे, हाथों की जकड़ कड़ी होती रहे जितनी देर आसानी से श्वांस रोक सकते है, उतने समय तक अपने को इसी सटीहुई स्थिति में रोकिए। फिर धीरे–धीरे श्वांस लीजिए और हाथों तथा घुटनों को शनैः शनैः ढील देते चलिए।

यह आसन प्रायः 5–5 बार ही करें। एक बार आसन करने के बाद 15–20 सैकेण्ड तक आराम की स्थिति में रूकना आवश्यक है।

जानु शिरासन :–

जिस आसन में जानु से सिर सटाया जाता है, उस जानु शिरासन कहते है। इससे भूख खुलती है। प्लीहा और यकृत दोष दूर होते है। जिनके पेशाब में चीनी आती है। जिन्हें मधुमेह हैं उन्हें इससे बहुत लाभ होता है। इससे आंतो को पुरस्सतरण क्रिया अपने स्वाभाविक रूप से निर्बाध होने लगती है। आंखो से चिपके दोष दूर होता है। पाण्डेयता नष्ट होती है। कांस श्वांस और प्राथमिक अवस्था का क्षय मिटता है।

इस आसन के अभ्यास से गैस की बीमारी में बड़ा फायदा होता है। उदर शूल नाभि शूल अथवा कब्ज जन्य सिर दर्द इस आसन से मिटते है। सिर का भारीपन, नेत्रों का दाह मस्तिष्क की उष्णता अंगों की अशक्ति–मूत्र संस्थान के विकार खुजली अरूचि सूक्ष्म ज्वर आलस्य आदि दोष इसके उत्तम अभ्यास से दूर होते है। पेट की खराबी और आंतो की शिथिलता से होने वाले सभी विकारों का मूलोच्छेदन इस आसन से होता है।

विधि :– दोनो पैरों को सीधे सामने फैलाकर बैठ जाईये। रीढ़ की हड्डी और एक सीध में रहें। अब सीधे दाहिने पैर को घुटने से मोड़कर एड़ी को गुदा और अण्डकोश के बीच जमाइये। बांया पैर पूर्ववत बिल्कुल सीधा रहना चाहिए।

इसके बाद दोनों हांथों से बांयें पांव को पकड़कर उसी के घुटने पर सांस छोड़कर सिर अथवा नाक जमाइये। साथ ही नाभि ससेत पेट की पीठ की ओर अधिक से अधिक अंदर कीजिए जब तक आसानी से इस स्थिति में रह सकते हैं रहिये । प्रारंभ में 10–15 मिनट तक और बाद में शनैः–शनैः आधा मिनट तक स्थिति में रूकने का अभ्यास बढ़ाइयें। फिर सांस लेते हुए दाहिने पांव को फैलाकर पूर्व स्थिति में आ जाइये सिर्फ दस सैकेण्ड रूकिये अब बांये बीच चिपटाकर रखिये। तुरन्त ही दोनो से दाहिने पांव को पकड़कर बीच पूर्ववत

आधा मिनट तक इसी स्थिति में रहकर सांस पूर्ववत आधा मिनट तक इसी स्थिति में रहकर सांस लेते हुए बांया पांव फैलाइये।
इस आसन को इसी प्रकार पांच मिनट तक किया जाना चाहिए।

10 शवासन

शव की स्थिति में अंग प्रयत्गों को लाने की क्रिया का नाम शवासन है। यह बड़ा ही उपयोगी आसन है। यदि इसे ठीक प्रकार से सीखा जा सके, तो उस सामान्य निन्द्रा से कही अधिक स्वास्थ्यकर हैं, ग्रंथों में इस आसन की बड़ी प्रशंसा गाई गई है। चश्में जाते शवासन के अनुसार जब व्यक्ति शारीरिक मानसिक श्रम से थक गया हो, उसे शवासन करना चाहिए। ऐसा करने से क्लान्ति मिटती है मन मस्तिष्क और शरीर में ताजगी आती है। शवासन द्वारा मन शरीर को प्रशंत स्थिति में अवस्थित किया जाता है। जिससे नस नाड़ियों के तनाव मिटते हैं, उनकी उत्तेजना का प्रशमन होता है। फलतः दो लाभ होते हैं। (1) रक्त की बढ़ी ऊष्मा का नाश होता है, वह स्वाभाविक ही होती है। कोषों का छीजने या नष्ट होने की क्रिया बंद हो जाती है। (2) दूसरे रक्त संवहरण की क्रिया प्राकृत गति से धावित होती है। जिन–जिन अंगों में तनाव रहा था और इस कारण पूर्ण मात्रा में शुद्ध रक्त उन्हें नहीं मिल पा रहा था शिथिलन की स्थिति में उन्हें यथेष्ट मात्रा में पोषण–रक्त मिलता है। जिससे टूटे हुए कोश तेजी से उत्सर्जनार्थ मलत्यागना संस्थान को भेज दिये जाते है। और उसके स्थान पर नये नये स्वस्थ कोषों का निर्माण भी तेजी से होने लगता है। यही कारण है कि शवासन से उठकर मनुष्य अपने में अनपम स्फूर्ति और चैतन्यता पाता है।

विधि :– पीठ के बल चित्त लेट जाइये। एड़ी पंजे घुटने और जंघायें परस्पर मिलाकर रखिये। हाथों को कमर से सटाइये। आंखे खुली और फैली हुई स्वाभाविक हालत में रखिये। आंखे बंद कर लीजिए। कि पैरों की अंगुलियों सुन्न हो गई है। टखनें घुटनें जंघायें सुन्न हो गये है। अंग अंग शिथिल हो गये है। ढीले हो गये है। मेरे शरीर में कहीं कोई तनाव नहीं है। कहीं कोई उत्तेजना नहीं है। मै शांत हूँ, पूर्णतया शांत हूँ। मै प्रकृति देवी की गोदमयी गोद में आनंद पूर्वक विश्राम कर रहा हूँ। इसके पश्चात शांत भाव में डुबकी लगाते हुए भावना कीजिए कि मेरा मन भी पूर्णतया हो गया है। मेरे मन में कोई ऊहापोह की उत्तेजना नहीं है। निर्मलता ही निर्मलता शांति की शांति है। मै भली भांति शून्य मष्तक हो जाइये। चिंतन करना भी बंद कर दीजिये। तरग

रहित अविचत्र स्थिति में पड़े रहिये।शबाशन का अभ्यास प्रत्येक आसन के बाद करने का नियम है। जितने सयम तक कोई आसन आप करते है। उसके तत्काल बाद कोई आधे सयम तक शवासन करने का विधान है। ऐसी स्थिति में दो तीन तीन तक इसे किया जाता है। जो लोग सभी आसनों के बाद इस करना उचित समझतें हैं, वे दस पन्द्रह मिनट तक इसे लगया करते है। मानसिक व्याधियों के दूरीकरण हदय रोग निवारण और मनोनिग्रहदि आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए इसे आधे घण्टे तक प्रतिदिन एक बार या अनेक बार किया जा सकता है। इसे घबड़ाहट भय शोक वेदना और ईष्या द्वेष से आप संतप्त हो तब आप इसे लगाकर नाड़ी संस्थान की प्रशासन अवश्य करें। आवेशों और आवेशों के बबाल का नियंत्रण शवासन द्वारा आसानी से होता है।

10 शयनोत्थासन :–

प्रायः हम सोकर अंगड़ाते हुए उठते हैं। हमारा यह अंगड़ाना आंतरिक अवयवों की अड़कन–जड़कन को दूर करने के लिए एक प्रकार की महज प्रतिक्रिया है। उसी स्थिति में यदि हम अपने को कुछ काल स्थिर भाव से साध सकें, तो वह निश्चिय ही हमारे स्वास्थ के लिए बड़ा ही लाभकारी होगा, क्योकि हमारा वैसा करना प्रकृति को नैसर्गिग मांग की प्रसूर्ति करना होगा।

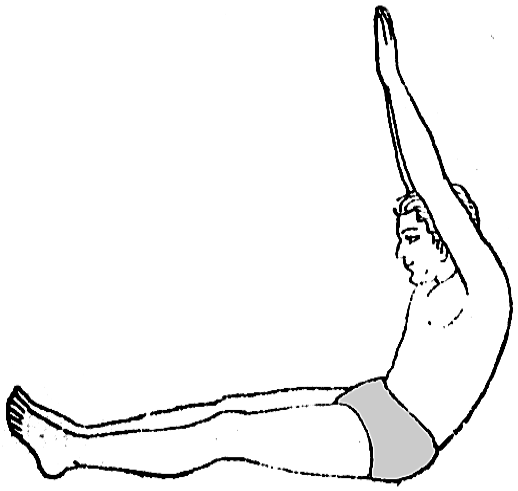

शयनोत्थासन

शयन उत्थान आसन में दोनों हाथ ऊपर की ओर अधिकाधिक ताने जाते है। इस कारण हाथों की नस नाड़ियों और मांस पेशियों की शिथिलता दूर होती है। उनमें शुद्ध रक्त का प्रभाव तीव्र गति से बहने लगता है। और वे बलिष्ठ बनती है। इस आसन का उदर गुहा और उदर पेशियों पर बड़ा सुखकर प्रभाव देखा गया है। इस कारण पेट वादी मेदोरोग के दूरीकरण के लिए यह

उपयोगी है। पाचकाग्नि को बढ़ाने और कब्ज को दूर भागने तथा बल वीर्य को बढ़ाने के लिए प्रस्तुत है।

विधि :– सर्वप्रथम पीठ के बल चित्त लेट जाइये। पैरों को परस्पर मिला लीजिये। एडी–एडी से मिली रहं पैर एकदम सीधे रहे। अब धीरे धीरे सांस को बाहर निकालकर और सिर गर्दन तथा हाथों को उठाते हुए कमान की आकार में अवस्थित हो जाइये। इस स्थिति में पेट में पर्याप्त बल पड़न चाहिए। दोनों हाथ साधे और मिले हुए रहने चाहिए। हथेलियां खुली और ऊपर की ओर तनी रहनी चाहिए। पांच से दस सेकेण्ड तक स्थिति में रहिये और फिर सांस भरते हुए धीरे धीरे लेट जाइये।

इसी क्रम से यह आसन पांच से पन्द्रह बार तक करना चाहिए। आसन की समाप्ति पर पेट के बल लेटकर किये जाने वाले व्यायाम करें अथवा पेट के बल लेटकर दो चार मिनट विश्राम करें।

11. उत्तान पादासन :–

'उत्तान का अर्थ हैं,' ऊपर की ओर पाद का अर्थ है। पैर इस प्रकार उत्तान पादासन है, जिसमें पैश्र ऊपर की ओर किये जाते है। इस आसन से पैरों के उठाने की क्रिया प्रमुख है यह आसन पेट की गैस को उद्‌गार अथवा वायु के रूप में बाहर निकाल फेंकता है। कमर में शक्ति आती है। क्षुधा प्रदीप्त होती है। शौच शुद्धि होती है, कब्ज नहीं रहता। पेट के स्नायुओं में बड़ा बल आता है। आमाशय प्रदाह मिटता है। ग्रहणी दोष मिटते है। पेट की चर्बी छटती है। हार्नियां रोग दूर होता हैं।

स्त्री और पुरूष दोनों के लिए प्रायः यह आसन समान रूप से लाभकारी है। इस आसन को प्रायः जागते ही चारपाई पर भी कर सकते है। इस आसन से टांगों की सन्धियां, नस–नाड़ी और कटि विशेष रूप से सुदृढ़ बनते है और इन अंगों में अटके आम के कर्ण मूत्र के साथ बाहर आते हैं। अतः यह आसन शरीर के अधोभाग की नाड़ियों का शोधन करता है। रक्त–दृष्टि को दूर करता है।

विधि :– पीठ के बल भूमि या बिछौने पर चित्त लेट जाइये। दोनों हथेलियां जांघों के दोनों ओर सीधी और रहिये दोनो पैरों के घुटने एड़िया और अंगूठे परस्पर सटे रहना चाहिए। अब सांस खींचकर अंदर रोकिये। धीरे–धीरे दोनों पैर को एक साथ उठाकर पृथ्वी या विस्तर से दो फुट की ऊँचाई पर स्थिर कीजिए। दृष्टि सामने पैरो के अंगूठों पर टिकी होनी चाहिए। जितनी देर

पैरों को ऊपर रोक सकें, उतनी देरी धैर्य पूर्वक रोकिये। कम से कम 10–15 मिनट तक तो अवश्य ही इस स्थिति में रहिए। फिर सांस छोडते हुए अति अवश्य ही इस स्थिति में रहिए।

रहिए। फिर सांस छोड़ते हुए अति मंद वेग से पैरों को नीचे को लाइये। पांच सात बार इसी प्रकार पैरों का उत्तान करने के बाद पुनः आंखें मूंदकर दोनों टांगे फैलाकर आराम करने की मुद्रा में लेट जाइये। जितने मिनट तक यह आसन किया है उसमें आधे समय तक पूर्ण विश्राम कीजिए।

इस आसन को करते समय पहले दो तीन बा 1–2 फुट की ऊँचाई तक पैरों को रोकें फिर दो–दो फुट की ऊँचाइ का अभ्यास करें। सुविधा और लाभ दोनों ही दृष्टियों से यह क्रम अपनाना अच्छा है। इस आसन को क्रमशः बांये टांग को उठाकर भी करते एक टांग को नीचे ही सीधा रखकर दूसरों को ऊपर उठाने से अर्थ उत्तासन पादासन हो जाता है। यह अपेक्षाकृत सुगम है। पूर्ण उत्तान पादासन हो जाता है। यह अपेक्षाकृत सुगम है। पूर्ण उत्तान की अपेक्षा इससे कुछ कम लाभ होते है।इस आसन को तीन से पांच बार तक करना चाहिए। धीरे–धीरे ऐसा अभ्यसा साधना चाहिए कि सांस रोके एक मिनट तक एक बार में टांगे ऊपर रोकी जा सकें टांगों को उठाने और इन्हें ऊपर ही रोकते समय इतनी सावधानी अवश्य रखें कि दोनों टांगे एकदम सीधी हो रहें परस्पर मिली भी रहें।

पावों को शीघ्रता से ऊपर ले जाना सरल है, किंतु अति मंद वेग से ऊपर करने में काफी श्रम होता है। इस आसन का समुचित लाभ उठाने के लिए अत्यंत मंदगति से टांगों को ऊपर उठाना चाहिए, और अत्यंत मंदगति से ही उन्हें नीचे लाना चाहिए।

इस आसन को तीन से पाँच बार तक प्रतिदिन किया जा सकता है। नौकासन के साथ इसे करने वाले साधक यह ध्यान रहें कि वे जितनी बार नौकासन करें उतनी ही बार इसे भी ध्यान रखें कि वे जितनी बार नौकासन करें उतनी ही बार इसे भी करें। कुछ लोग नौकासन और उत्तान हस्तपादासन करते समय प्राणायाम सांस साधने की क्रिया नहीं करते। ऐसे लोगों को 2 मिनट तक तीनों आसन करना चाहिए। जिनकी नौकासन वर्जित हैं, हस्तादासन भी नहीं करना चाहिए।

11. पाद चालनासन

इस आसन में पैरों को एक व्यवस्थित क्रम में नीचे ऊपर किया जाता है। इसी कारण इसे पाद चालनासन की संज्ञा दी गई है। इस आसन के निरंतर नियमित अभ्यास से जानुमूल जंघा घुटने पादगुल्फ और पैरों की तो शक्ति

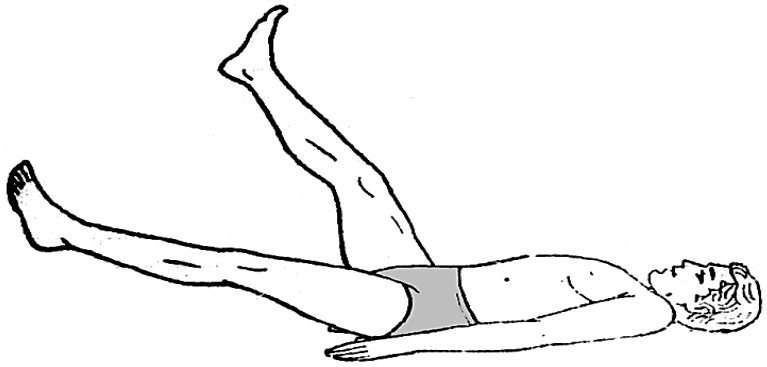

पाद चालनासन

मिलती ही हैं, पाद चालन से उदाहरण कला का उदर गुहा का उदरस्थ मांस पेशियों का छोटी बड़ी आंतो और यकृम प्लीहा का उत्तम व्यायाम हो जाता है। अपान का निस्सरण मलोत्सर्य संस्थान को सुखाकर उत्तेजना भी मिलती है। फलतः पांच काग्नि की निर्बलता अजीर्ण अपचन, आनाह, उदरशूल आदि बीमारियाँ दूर होती है। कोष्ठ वद्वता तथा मूत्रादि ही नहीं मधुमेह उदर प्रभृति भी मिटते हैं।

पाद चालनासन वातव्याधि में बड़ा लाभकारी है। इससे पाद स्तम्भ आमबात, कटिशूल पिंडलियों की ऐंठन नाडी विकार तथा स्नायु दोष अपेक्षाकृत शीघ्र कम समय में नष्ट होते है। पहले पैरों को फैलाकर पीठ के बल पृथ्वी के बल पृथ्वी पर लेट जाइये। अपने दोनो हाथों को फैलाकर कमर के पास जमीन पर रखियें। हथेलियां पृथ्वी से सटी रहनी चाहिए। अब सर्वप्रथम बांये को ऊपर की ओर शीघ्रता के साथ ऊपर ले जाइये। तुरंत ही उसे नीचे लाइये और दाहिने पैर को ऊपर ले जाइये। तुरंत ही उसे नीचे लाइये और दाहिने पैर को ऊपर ले जाइये। इसी क्रम से यथा शक्ति सांस रोके हुए बार बार ऐसा कीजिए फिर सांस छोड़कर पैरों को पृथ्वी पर ले जाइये। सांस समान्य होने तक चुपचाप लेटे रहिए। पुनः सांस लीजिए और क्रम –क्रम से बांये दांये पैर को पूर्वोक्त रीति से उठाइये। पांच से दस पन्द्रह बार तक सांस रोककर यह क्रिया की जावे।

12. पवन मुक्तासन :

जिस आसन से अपान वायु का मोचन एक सहजतया होता है, उसे पवन मुक्तासन कहते हैं। यह आसन चित्त लेटकर किया जाता है, ये आसन लेटे ही लेटे किया जाता है। इसके दो प्रकार है। (1) एकल पवन–मुक्तासन और (2) दोहरा पवन–मुक्तासन इन्हें क्रमशः एकपाद पवन मुक्तासन और द्विपाद–मुक्तासन भी कहते हैं।

इस आसन का प्रभाव पेट पर विशेष आंतों पर बड़ा अच्छा होता है। इस आसन

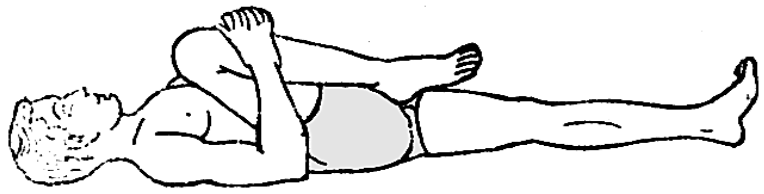

पवनमुक्तासन

से जीर्ण कब्ज का समूलोच्छेदन होता है। शौच वृद्धि में सहायता मिलती है। थोड़ा जल–पान करके यदि यह आसन किया जाय तो बद्ध कोष्ट के रोगियों को बड़ा लाभ होता है। इसे प्रातः नींद खुलते ही बिस्तर पर भी कर सकते है। नित्य नियम पूर्वक इसका अभ्यास करने से अर्श और गैस के रोगियों को बड़ा लाभ होता है। बिना कष्ट अपान को निःसरण होने लगता है। उदर गत वायु शांत रहता है। यकृत और क्लोम की श्रवण किया सुधरती है। गुर्दो की शिथिलता दूर होती है। पेट की चर्बी छटती है। फुस्फुस तथा ह्रदय सम्बंधी विकार मिटते है। पेट का अफरा दूर होता है। इस आसन से इतने सारे लाभ क्यों कर होते है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस आसन से उदागों पर गहरा दाब पड़ता हैं, उनकी शिथिलता दूर होती है, उन्हें ताजा रक्त अधिक मात्रा में मिलता है। पीठ तथा श्रोणि की पेशियां स्नायुओं तथा मांस रज्जुओं का प्रसरण होता है। जिससे उनमें अटकें विजातीय द्रव्य दूषित वायु आदि विकार मिटते है। अंतरावयवों की मालिश सी होती है।

विधि :– पहले पीठ के बल फर्श या बिछौने पर चित्त लेट जाइये। भुजाओं बगलों में सटी हुई एकदम सीधी हो। एड़ी परस्पर मिली रहें। दोनों टांगे एक सीध में रहे। अब सांस छोड़ते हुए पहले दाहिने घुटनों को मोड़ियों उसे उदर

पर स्थापित कर दोनों भुजाओं स कसकर पेट पर दबाव डालिए। गर्भवती स्त्रियों को यह आसन करना चाहिए शेष सभी लोग प्रातः समय अथवा यथावश्यक कर सकते है। यह आसन में श्वास प्रश्वांस सबंधी नियम का सावध ाानी के साथ यदि पालन किया जाय तो इस एक ही आसन से बड़ा लाभ उठाया जा सकता है। साधारणतः श्वांस प्रश्वास का नियम इस प्रकार है। (1) श्वांस बाहर निकालकर ही घुटनों को मोड़ना चाहिए। (2) बहिकुम्भक बाहर ही सांस रोकने का कार्य जब तक सरलता से साध सकें तभी तक घुटनों तक लाने का जोरदार योगासन नस नाड़ियों के खिचाव के बाद नसों नाड़ियों को विश्राम मिलना चाहिए तभी अगला आसन सुविधा और सफलता से किया जा सकता है। विश्राम के लिए शवासन उत्तम है। अतः प्रत्येक आसन के बाद इसका अभ्यास करना चाहिए। प्रातः काल सूर्य स्नान किया जाय तो आसनों से विशेष लाभ होता है। शीरीरिक स्वास्थ्य का पवित्र विचार व आचार से घनिष्ठ संबंध रहता है। अतः उसके संरक्षण की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

सारांश

इस इकाई में आपने योग विज्ञान की उपयोगिता का अध्ययन किया।

- अष्टांग योग जो महर्षि पतंजलि के द्वारा प्रतिपादित है उसका अध्ययन किया।
- यह सम्पूर्ण इकाई योगभ्यास का प्रभाव एवं महत्ता को प्रतिपादित करती है।

अभ्यास प्रश्न

(1) अष्टांग योग से आप क्या समझते है स्पष्ट करें।
(2) योगाभ्यास का शरीर पर प्रभाव एवं महत्व लिखें।
(3) स्वास्थ सरंक्षण एवं संवर्धन में योग की महत्ता प्रतिपादित करें।
(4) किन्ही पांच रोगों में किये जाने वाले आसनों का नाम लिखें।
(5) किन्ही पाँच आसनों की विधि एवं लाभ लिखें।